54/1

अनेकान्त

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक
अनेकान्त
प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

वर्ष 54, किरण 1
जनवरी-मार्च 2001

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
परामर्शदाता :
प. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/
वार्षिक शुल्क
15/
इस अंक का मूल्य
5/
सदस्यो व मंदिरो के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक .
मास्टर प्रिंटर्स 110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो। इसमें प्राय: विज्ञापन एवं समाचार नहीं लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, दूरभाष : 3250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अंतर्गत आयकर मे छूट

(रजि आर 10591/62)

महावीर भगवान्

- सुभाष जैन

महावीर भगवान्, तुम्ही ने जीवो का उद्धार किया।
सच्चे सुख की राह दिखाकर, दुनिया का उपकार किया।।
एक रात त्रिशला ने देखे, सोलह सपने अनजाने।
पूज्य पिता सिद्धार्थ लगे तब, उनका मतलब समझाने।
तीर्थकर का जीव गर्भ में, आया तुमको अपनाने।
दिव्य देवियो ने तब आकर, माता का सत्कार किया।। **महावीर भगवान...1**
तुमने जन्म लिया तो छाई, हर आंगन में खुशहाली।
जनता नाच-नाच हर्षाई, सुख वैभव से वैशाली।
'वर्द्धमान' के नामकरण पर, महक उठी डाली-डाली।
थमे हुए से सारे जग मे, नवजीवन सचार किया।। **महावीर भगवान...2**
वन मे जा पहुंचे तप करने, त्याग राज्य का सिंहासन।
धारण करके रूप दिगम्बर, छोडे मासारिक साधन।
केशलोच कर निज हाथों से, आत्म सुख मे हुए मगन।
बारह धर्म भावनाओ पर, निशदिन गहन विचार किया।। **महावीर भगवान...3**
जब आहार हेतु नगरी में, आए महाव्रत के धारी।
पड़गाहन को खड़े हुए थे, द्वार-द्वार पर नर-नारी।
तभी सींखचो में इक अबला, दीखी बन्दी बेचारी।
उसी चन्दना के हाथों से, कोदों को स्वीकार किया।। **महावीर भगवान...4**
द्वादस बरस किया तप तुमने, तीन लोक दुतिवंत हुए।
केवल-ज्ञान हुआ तब तुमको, तीर्थकर अरिहत हुए।
समव-शरण रच दिया सुरों ने, मंडप दिव्य दिगत हुए।
गौतम गणधर ने वाणी को, समझा और प्रसार किया।। **महावीर भगवान...5**
कातिक मावस के प्रभात में, ध्यानमग्न यों लीन हुए।
शेष अघाति कर्म नशाकर, शिवपद पर आसीन हुए।
जीव मात्र को दिव्य रत्नत्रय-मार्ग दिखा स्वाधीन हुए।
देवो ने की चरण-वन्दना, जग ने जय-जयकार किया।। **महावीर भगवान...6**
आए आज 'सुभाष-शकुन' भी, शरण तुम्हारी, हे भगवन्।
भटकें है अज्ञान-तिमिर में, करदो तनिक मार्ग दर्शन।
कर्म-बन्ध से छुट जायें हम, छूटे यह नश्वर जीवन।
चलते हैं जो पद-चिन्हों पर, उनका बेड़ा पा किया।। **महावीर भगवान...7**

-महासचिव, वीर सेवा मंदिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-2

नासूर बनता सोनगढ़ मिशन

डॉ. जयकुमार जैन

जैन सन्देश का साहू श्री अशोक जैन विशेषांक मेरे सामने है और उसमें डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, जयपुर के 'सम्मेदशिखर के लिए समर्पित साहू अशोक कुमार जैन' लेख में उल्लिखित वाक्य ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया है। वाक्य इस प्रकार है-

''एक सामाजिक कार्यकर्ता, जैन दर्शन का अध्येता और सोनगढ़ मिशन का प्रतिनिधि होने के कारण मेरा साहू परिवार से विगत 33 वर्षो से निकट का सम्बन्ध रहा है।''

उपर्युक्त वाक्य में डॉ. भारिल्ल जी को यथार्थ तथ्यपरक स्वीकारोक्ति के लिए धन्यवाद। उन्होंने मात्र इस वाक्य के द्वारा जाने-अनजाने यह स्वीकार किया है कि सोनगढ़ मिशन की सत्ता है और वे उस मिशन के प्रतिनिधि हैं, परन्तु उनके सौम्य, आकर्षक व्यक्तित्व एवं अध्यात्मपरक चिन्तन का उनके क्रिया-कलापों से मेल नहीं खाता। क्योंकि सोनगढ़ मिशन द्वारा व्याख्यायित तथा प्रचारित अध्यात्म और ओशो के अध्यात्मपरक भोगवादी चिन्तन में विशेष अन्तर नहीं दिखता है। ओशो भी भोग से समाधि की प्रक्रिया को महत्त्व देते हैं और सोनगढ़ मिशन के संस्थापक स्वयम्भू घोषित भावी तीर्थकर सूर्यकीर्ति भी तप-दान-पूजा-तीर्थयात्रा आदि को मिथ्यात्त्व रूप में प्रचारित करते रहे हैं, प्रकारान्तर से भोगोपभोग को उन्होंने धर्ममार्ग में बाधक नहीं कहा।

दिगम्बर जैन धर्म मूलत: निवृत्तिपरक धर्म के रूप में स्वीकृत है और श्रुतपरम्परा से तप-दान-पूजा आदि को श्रावकोचित कर्तव्य मानते हुए परम्परया मोक्ष-फल देने वाला तक माना गया है यही कारण था कि अनेकान्त दृष्टि से विचार करने वाले और दिगम्बर जैन धर्म पर दृढ़ आस्था रखने वाले मनीषी विद्वानों द्वारा तथाकथित सोनगढ़ से बहुप्रचारित

अध्यात्म को उग्र विरोध का सामना करना पड़ा था। फिर भी, सोनगढ़ की आधारभूत शैली और कहानजी के प्रति दृढ़ आस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ा और वे दिगम्बर जैन धर्म की वीतरागता की आड़ में अपना उल्लू सीधा करते रहे तो दूसरी ओर समाज की स्थिति भी आश्चर्यजनक रूप से ढ़ाक के पत्ते के समान ही बनी रही।

वस्तुतः इस सोनगढ़ के जनक थे-कहानजी भाई, जो कहानजी स्वामी के रूप में विख्यात हुए और उनकी ख्याति का सबसे बड़ा कारण था उनका स्थानकवासी सम्प्रदाय से दिगम्बर परम्परा में आना। उनके इस परिवर्तन में दिगम्बर जैन परम्परा पोषक अनुयायियों ने सोचा था कि एक अन्य परम्परा में जन्में कहानजी को सद्बुद्धि आयी है और उनके साथ हजारों अनुयायी भी उनके अनुसर्ता बने हैं तो अच्छा ही है, परन्तु उन्हें क्या मालूम था कि इस पंथ परिवर्तन की आड़ में छद्म निहित स्वार्थ छुपा हुआ है। बात तो धीरे-धीरे तब खुली जब स्वार्थ की परतें एक के बाद एक खुलती गई और लोगों को तथा दिगम्बर जैन धर्म के मनीषी विद्वानों को अहसास होने लगा कि यह तो स्वयं को स्थापित एवं प्रचारित करने का महज हथकण्डा और कुचक्र है। परिणाम स्वरूप धर्म प्रेमियों और विद्वानों ने विरोध का परचम लहराया, परन्तु स्वर्णपुरी के वैभव और स्वार्थान्ध लोगों के निहित स्वार्थ बदस्तूर जारी रहे। कहानजी भाई के सौम्य व्यक्तित्व और आभामण्डल की चामत्कारिक छाया में परम्परा विघातक गतिविधियाँ दीमक की तरह पनपती रहीं। ऐसा भी नहीं था कि समाज सोया था। समाज के जागरूक लोगों ने यथावसर हर स्तर पर उनका विरोध किया। यहाँ तक कि जब उन्होंने अपने स्वयम्भू आयतनों में सूचना लगायी कि यहाँ मात्र सोनगढ़ और कहानपंथी आगम का ही स्वाध्याय किया जायगा तब उनके आगमों को (जो परम्परा विरोधी ही थे) जलसमाधि देने में भी लोग नहीं झिझके। जगह-जगह काले झण्डों से कहानजी भाई का स्वागत किया गया। इस प्रकार स्वयम्भू भावी तीर्थंकर और सद्गुरुदेव का आभामण्डल जब फीका पड़ने लगा तब भी उनके अनुयायियों-मुमुक्षुओं का यकीन पूर्ववत् बना रहा-उनकी दृष्टि में-

यकताँ हैं बेमिसाल हैं और लाजवाब हैं
हुश्ने सिफ़ाते दहर में खुद इन्तख्वाब हैं।
पीरी में भी नमूनये अहदे शबाब हैं
गोया कि कहान जी खुद आफ़ताब हैं।।

और इसी यकीन के चलते कहानजी भाई का स्वयम्भू भावी तीर्थकर बनने और उसके निमित्त मायाजाल बुनने का तारतम्य भी चलता रहा। कालक्रमानुसार जब वे जसलोक से विदा हुए तो उनकी नश्वर देह तक को भुनाने का स्वर्णपुरी के सम्बद्ध लोगों ने मौका नहीं गंवाया और तब तक उनकी अन्तिम क्रिया नहीं होने दी जब तक कि उनके दूरस्थ भक्त मुमुक्षुगण उपस्थित नहीं हो गए। मुमुक्षुओं को अपने स्वयम्भू आफ़ताब के इस प्रकार के बिछुड़ने का गहरा सदमा पहुँचा था, परन्तु अध्यात्म पर नजर रखने वाले मुमुक्षु भाईयों ने उन्हें पुन: स्थापित करने का बीड़ा उठाया और **'सोनगढ़ मिशन'** के रूप में सुनियोजित योजना के तहत कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। उस मिशन के सर्वाधिक जागरूक समर्पित प्रतिनिधि के रूप में डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल ने इसकी कमान संभाल ली। सत्ता की लड़ाई में, सोनगढ़ में जब उनकी दाल नहीं गली तो उन्होंने टोडरमल स्मारक जयपुर पर संतोष करना उचित समझा। शनै: शनै: उन्होंने प्रवचनकारों की टोलियाँ बनायीं, सस्ता साहित्य उपलब्ध कराया, मुमुक्षु स्वाध्याय मण्डलों का निर्माण कराकर समाज को खण्ड-खण्ड करने में भी उन्होंने अपनी शान समझी, परन्तु तीन-चार वर्ष पहले जयपुर में जब आचार्य विद्यासागरजी के शिष्य मुनिश्री सुधासागरजी का चातुर्मास हुआ तो उन्होंने कहानपंथ की स्वर्णिम काठ की हांडी का स्वरूप लोगों को दिखाया। अपनी विशिष्ट शैली और तत्त्व की गहराई को जब उन्होंने लोगों को समझाया तो **सोनगढ़ मिशन** की चूलें हिलने लगीं। परिणामस्वरूप यथावसर कूटनीति और राजनीति के माहिर समझे जाने वाले समर्पित प्रतिनिधि ने सशक्त आश्रय की तलाश प्रारम्भ कर दी। शीघ्र ही उनकी यह तलाश पूरी हुई और वे राष्ट्रसन्त आचार्यश्री विद्यानन्दजी के शरणागत हो गए। आचार्यश्री ने शरणागत की रक्षा को उचित समझा और अब वे शरणागत होकर ही अपनी गतिविधियों को सर-अंजाम दने में लगे हुए हैं।

हालांकि उनकी सोच में कोई अन्तर नहीं आया है और न ही उनकी श्रद्धा आचार्य के प्रति है। वे तो किसी तरह घुसना चाहते हैं। यही उनका एकमात्र मिशन है।

समय की गति बड़ी विचित्र होती है। दुर्भाग्य से 'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, जैसी संस्था को कुछ स्वार्थान्ध लोगों ने तोड़ने का षड्यन्त्र रचा तो मौका ताड़कर सोनगढ़ के इस प्रतिनिधि ने उसे हवा ही नहीं दी, वरन् उसके संरक्षक भी बन बैठे। वित्तीय संरक्षण के साथ-साथ अपने कम्यून का पूरा समर्थन भी उसे दिला दिया। इस प्रकार इस मंच के माध्यम से मुमुक्षुमण्डल और सोनगढ़ मिशन को ऊर्जा भी मिली और स्वार्थान्ध लोगों को संतुष्टि। अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् ने फिरोजाबाद अधिवेशन में सोनगढ़ के पाखण्ड का विरोध किया था और मूड़बिद्री के भट्टारक श्री चारूकीर्ति स्वामी ने सोनगढ़ द्वारा किए जा रहे प्रयासों को **'इतिहास की सबसे बड़ी डकैती'** की सज्ञा दी थी। प्रस्ताव निम्नलिखित था।

'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद का यह पन्द्रहवां अधिवेशन दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ द्वारा तथाकथित भावी तीर्थकर 'सूर्यकीर्ति' के नाम से जो मूर्ति स्थापित की गयी है, उसे कपोल-कल्पित एवं दिगम्बर परम्परा तथा आगम के प्रतिकूल घोषित करती हुई, इस कार्य को मिथ्यात्त्व प्रेरित और मिथ्यात्त्ववर्द्धक मानती है तथा इसकी निन्दा करती है।'

प्रस्तावक-**नीरज जैन**

27.5.85 समर्थक-**लक्ष्मीचन्द जैन, भारतीय ज्ञानपीठ**

अनुमोदक-**भट्टारक चारुकीर्ति मूड़बिन्द्री**

भट्टारक चारुकीर्ति श्रवणबेलगोला

इस प्रस्ताव के समर्थक विद्वत् समूह के कतिपय लोगों का सोनगढ़ मिशन के प्रतिनिधि की गोद में बैठ जाना आश्चर्य का विषय है और आश्चर्य है कि गत दिनों उन्हीं विद्वत् समूह को श्रवणबेलगोला के भट्टारक जी द्वारा बहुमान देना और भी विस्मय उत्पन्न करता है। जबकि

सोनगढ़ मिशन के पर्दे के पीछे के एजेण्डे के विषय में प्राय: सब जानते और समझते हैं कि उनकी प्रवृत्तियां दिगम्बर जैर परम्परा विघातक हैं। उनके कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं -

-'गुरुदेव के ही मुख से अनेक बार आनन्दकारी उद्गार सुने हैं कि मेरा यह भव तीर्थंकर प्रकृति का बंध होने से पूर्व का भव है, अर्थात् जब अगले मनुष्यभव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध होगा, साक्षात् तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में पूज्य बहिन श्री चम्पा बहिन ने यह बात सुनी है-
--आत्मधर्म मई 1976 जन्म जयन्ती पृ. 24

-मैं तीर्थंकर हूँ, ऐसा अन्तर में भासित होता था, परन्तु उसका अर्थ अब समझ में आया कि मैं तीर्थंकर का जीव हूँ, तुम्हारे (चम्पा बहिन के) निर्मल जाति-स्मरण ज्ञान से उस आभास का भेद आज स्पष्ट हुआ है।
-आत्मधर्म 1976 पृ. 20 (जन्मजयन्ती अंक)

-'परमपूज्य गुरुदेव का जीव गत पूर्वभव में जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में राजकुमार था, चम्पा बहिन का गत पूर्व भव में देवराज नाम का श्रेष्ठी पुत्र था, यह राजकुमार भविष्य में धातकी खण्ड में सूर्यकीर्ति के नाम के तीर्थंकर होंगें, यह बात भगवान की दिव्यध्वनि में प्रत्यक्ष सुनी थी, यह जाति स्मरण में आया है।'
-आत्मधर्म पृष्ठ 10, जन्मजयन्ती बम्बई अंक

जिनवाणी के विषय में -

- श्री वीतराग की वाणी का श्रवण भी पर विषय और स्त्री भी परविषय है। ज्ञानी की किसी भी पर विषय में रुचि नहीं है, वीतराग की वाणी के श्रवण की भी भावना ज्ञानी की नहीं है, अज्ञानी जीव स्त्री को बुरा और भगवान् की वाणी को अच्छा मानकर पर-विषय में भेद करता है।
-मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण-प्रथम भाग तीसरा अध्याय पृ. 80

दिगम्बर साधुओं के विषय में -

- 'आजकल जगत में त्याग के नाम पर अन्धाधुन्धी चल रही है कुंजड़े काछी जैसों ने भटे-भाजी की तरह व्रतों का मूल्य कर दिया है।'

- कल के भिखारी ने आज वेष बदल लिया, स्त्री व कुटुम्ब को छोड़ दिया, तो क्या वह त्यागी हो गए? सबने मिलकर त्यागी मान लिया तो क्या बाह्य संयोग-वियोग से त्याग है। अन्तरंग में कुछ परिवर्तन हुआ है या नहीं, वह तो देख। बाहर से दिखाई देता है कि अहो कैसा त्यागी है, स्त्री नहीं, बच्चे नहीं, जंगल में रहता है। ऐसे बाह्य त्याग को देखकर बड़ा मानते हैं, लेकिन त्याग का क्या स्वरूप है यह नहीं समझते।

-समयसार प्रवचन पृष्ठ 13, 11

- श्रावक के 12 व्रत और मुनियों के 5 महाव्रत भी विकार हैं-

-समयसार प्रवचन भाग-3 पृष्ठ 12

तप एवं परीषह के सन्दर्भ में -

- लोग मानते हैं कि खाना पीना छोड़ दिया इसलिए तप हो गया और निर्जरा हो गई, उपवास करके शरीर को सुखा लिया इसलिए अन्दर धर्म हुआ होगा। इस प्रकार शरीर की दशा से धर्म को नापते हैं।

- बाह्य तप परीषह इत्यादि क्रियाओं से मानता है कि मैंने सहन किया है। इसलिए मुझमें धर्म होगा, किन्तु उसकी दृष्टि बाह्य में है इसलिए धर्म नहीं हो सकता। -समयसार प्रवचन पृ. 308

धर्म के सन्दर्भ में -

- जो शरीर की क्रिया से धर्म मानता है सो तो बिल्कुल बाह्य दृष्टि मिथ्यादृष्टि है, किन्तु यहाँ तो पुण्य से भी जो धर्म मानता है, सो भी मिथ्यादृष्टि है।

- जितनी परजीव की दया, दान, व्रत पूजा भक्ति इत्यादि की शुभ लगन या हिंसादिक की अशुभ लगन उठती है वह सब अधर्म भाव है।

-आत्मधर्म पृष्ठ 10, अंक 1, वर्ष 4

श्रावकोचित कर्तव्यों के प्रति -

- कोई यह मत मानते हैं कि दान-पूजा तथा यात्रा आदि से धर्म होता है और शरीर की क्रिया से धर्म होता है यह मान्यता मिथ्या है।

-आत्मधर्म अंक 5, वर्ष 3

तीर्थयात्रा के विषय में -

- सम्मेदशिखर, गिरनार आदि की यात्रा से धर्म होता है, ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। -मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ. 170

शुभ-भावों के विषय में -

- दान पूजा आदि शुभ भावों से धर्म मानना त्रिकाल मिथ्यात्त्व है।
-समयसार प्रवचन भाग 2 पृष्ठ 6

शास्त्रों के विषय में -

- महाव्रत, दान, दया आदि का प्ररूपण करने वाले शास्त्र कुशास्त्र हैं।
-छहढाला ढाला-2 पद्य-13 (सोनगढ़ प्रकाशित)

ये कुछ उदाहरण हैं-कहानपंथ के, जिनमें परम्परागत आचार्यो द्वारा स्थापित चिरन्तन शाश्वत मूल्यों को नेस्तनाबूद करने की कोशिश की गई है। कहानपंथ के विषय में आचार्यश्री विद्यानन्द जी ने जो सामयिक टिप्पणी की थी और 'दिगम्बर जैन साहित्य में विकार' पुस्तक में कहानपंथ के विषय में पोस्टमार्टम करते हुए श्रावकजनों का मार्ग प्रशस्त किया था, वह आज भी सामयिक है। उन्होंने लिखा था-

"ये लोग निश्चय एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि हैं। इनके शास्त्र कल्याणकारी न होकर घातक कुशास्त्र हैं। उनका पठन-पाठन क्या, अवलोकन तक नहीं करना चाहिए। उन्हें स्वाध्याय मण्डलों में तथा जिनमंदिरों में नहीं रखना चाहिए। कहानजी ने विकृत साहित्य लिखकर दण्डनीय अपराध किया है और समाज में भ्रामक स्थिति पैदा कर दी है। सोनगढ़ से प्रकाशित साहित्य आर्ष परम्परा के विरुद्ध है।"

-मुनि विद्यानन्द

(सोनगढ समीक्षा पृ 56-57)

उस समय अनेक आचार्यो ने सोनगढ़ मिशन के तहत चल रहे कार्यो का पुरजोर विरोध किया था। आचार्य देशभूषणजी ने ऐसे साहित्य को दिगम्बर जैन मन्दिर से बहिष्कृत किए जाने को उचित ठहराया था अन्य

आचार्यो ने भी सोनगढ़ तथा कहानजी प्रवर्तित साहित्य को धर्म का मूलोच्छेद करने वाला निरूपित किया था। इतना ही नहीं, मनीषी विद्वान् श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार जी ने कहानजी मत के उदय को जैनधर्म और जैन समाज के लिए अभिशाप मानते हुए आशंका व्यक्त की थी कि यह किसी चौथे सम्प्रदाय की नींव रखी जा रही है-उन्होंने अनेकान्त में लिखा था-

आचार्य समन्तभद्र और कुन्दकुन्द का अपमान

कहानजी महाराज के प्रवचन बराबर एकान्त की ओर ढले चले जा रहे हैं। इससे अनेक विद्वानों का आपके विषय में अब यह ख्याल हो चला है कि आप वास्तव में कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान् जैनाचार्यो को ही वस्तुतः मान्य करते हैं। क्योंकि उनमें से कोई भी आचार्य निश्चय तथा व्यवहार दोनों में किसी एक ही नय के एकान्त पक्षपाती नहीं हुए हैं, बल्कि दोनों नयों का परस्पर सापेक्ष, अविनाभाव सम्बन्ध को लिए हुए, एक दूसरे के मित्र के रूप में मानते और प्रतिपादन करते आये हैं जबकि कहानजी महाराज की नीति कुछ दूसरी ही जान पड़ती है।

कहानजी महाराज अपने प्रवचनों में निश्चय अथवा द्रव्यार्थिक नय के इतने पक्षपाती बन जाते हैं कि दूसरे नय के वक्तव्य का विरोध तक कर बैठते हैं। उसे शत्रु के वक्तव्य रूप में चित्रित करते हुए 'अधर्म' तक कहने के लिए उतारू हो जाते हैं। यह विरोध ही उनकी सर्वथा एकान्तता को लक्षित कराता है और उन्हें श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्यो के उपासकों की कोटि से निकालकर अलग करता है, अथवा उनके वैसा होने का सन्देह पैदा करता है। इसी कारण श्री कहानजी का अपनी कार्यसिद्धि के लिए कुन्दकुन्दादि की दुहाई देना प्रायः वैसा ही समझा जाने लगा है, जैसा कि कांग्रेस सरकार गांधीजी के विषय में कर रही है। वह जगह-जगह गांधी जी की दुहाई देकर और उनका नाम ले लेकर, अपना काम तो निकालती है, परन्तु गांधीजी के सिद्धान्तों को वस्तुतः मानती हुई नजर नहीं आती।

जैन समाज में यह चौथा सम्प्रदाय -

कहानजी स्वामी और उनके अनुयायियों की प्रवृत्तियों को देखकर कुछ लोगों को यह भी आशंका होने लगी है कि कहीं जैन समाज में यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नहीं जा रहा है? यह तो दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायों की कुछ-कुछ अपनी बातों को लेकर तीनों के मूल में ही कुठाराघात करेगा और उन्हें अध्यात्मिकता के एकान्त गर्त में धकेलकर, एकान्त मिथ्यादृष्टि बनाने में यत्नशील होगा। श्रावक तथा मुनिधर्म के रूप में सच्चारित्र और शुभ-भावों का उत्थापन कर लोगों को केवल आत्मार्थी बनाने की चेष्टा में संलग्न रहेगा। उनके द्वारा शुद्धात्मा के गीत गाये जायेंगे, परन्तु शुद्धात्मा तक पहुँचने का मार्ग पास में न होने से लोग 'इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टा:' की दशा को प्राप्त होंगे। उन्हें अनाचार का डर नहीं रहेगा, वे समझेंगे कि जब आत्मा एकान्तत: अबद्ध है, सर्व प्रकार के कर्मबंधनों से रहित शुद्ध-बुद्ध है, और उस पर वस्तुत: किसी भी कर्म का कोई असर नहीं होता, तब बंधन से छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करने का यत्न भी कैसा?

पापकर्म जब आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते तब उनमें प्रवृत्त लेने में भय कौन करेगा? पाप और पुण्य दोनों समान, दोनों ही अधर्म ठहरेंगे तब पुण्य जैसे कष्टसाध्य कार्य में कौन प्रवृत्त होना चाहेगा? **इस तरह यह चौथा सम्प्रदाय किसी दिन पिछले तीनों सम्प्रदायों का हितशत्रु बनकर, भारी संघर्ष उत्पन्न करेगा और जैन समाज को वह हानि पहुँचायेगा जो अब तक तीनों सम्प्रदायों के संघर्ष द्वारा नहीं पहुँच सकी है, क्योंकि तीनों में प्राय: कुछ ऊपरी बातों में ही संघर्ष है, भीतरी सिद्धान्त की बातों में नहीं। इस चौथे सम्प्रदाय द्वारा तो जिनशासन का मूलरूप ही परिवर्तित हो जायेगा। वह अनेकान्त के रूप में न रहकर आध्यात्मिक एकान्त का रूप धारण करने के लिए बाध्य होगा।** -अनेकान्त/जुलाई 1954/पृ. 8

आदरणीय मुख्त्यार सा. के उपर्युक्त आकलन को आज के परिप्रेक्ष्य में परखा जाय तो हम पाते हैं कि उनका आकलन कितना सटीक था। अब चौथा सम्प्रदाय हकीकत के रूप में सामने है। इस सम्प्रदाय ने अपना रबड़

का तम्बू का फैलाव प्रारम्भ कर दिया है और उनकी यह गर्वोक्ति भी है कि आगामी 10 वर्ष में सम्पूर्ण दिल्ली में कहान मत का वर्चस्व होगा। इसमें दो राय नहीं कि -

- दिगम्बर जैन महासभा, दि. जैन महासमिति विद्वत् परिषद्, शास्त्री परिषद् आदि के विरोध के बावजूद कहानपंथ ने अपना विस्तार किया है, फिर भी अब तक उन्हें समाज का भय होता था, परन्तु अब तो समाज ही उन्हें सिर आंखों पर बैठाने को पलक पांवड़े बिछाकर तैयार बैठी दिखती है। समाज की विडम्बना ही है कि धार्मिक अनुष्ठानों के आडम्बर पूर्ण आयोजन में व्यय तो उसे सह्य है, परन्तु परम्परागत विद्वान् को देना असह्य रहता है और इस मनोवृत्ति का सोनगढ़ मिशन के संचालक प्रतिनिधि ने पूरा लाभ उठाया है। अर्थाभाव तो है नहीं सो उनके पण्डित/प्रवचनकार निःशुल्क सेवायें देकर समाज के लिए श्रद्धास्पद बन जाते हैं। यद्यपि उनका वित्त-पोषण ट्रस्ट के माध्यम से हो जाता है। भले ही, इसकी आड़ में लाखों का कहान साहित्य आपको परोसकर चले जायें। इस पर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त इस तथाकथित चौथे सम्प्रदाय के विषय में मेरठ सेसन जज का निर्णय द्रष्टव्य है जिसमें मान्य किया है कि "**कांजी स्वामी दिगम्बर मुनि भी नहीं थे।**" अतः स्पष्ट है कि कांजीपंथी दिगम्बर जैनधर्मी नहीं हैं।

जहाँ दिगम्बर जैन समाज की सभी शीर्षस्थ संस्थाओं ने कहान परम्परा को नकारा हो, विद्वत्समुदाय ने उसके कृत्यों को आगम परम्परा विरोधी घोषित किया हो और आचार्यो ने पूरी तरह अस्वीकृत कर दिया हो, वहीं भ्रमित जैन समाज के कतिपय कर्णधारों ने भगवान् महावीर 2600वें जन्म महोत्सव के प्रसंग में उस सोनगढ़ मिशन के प्रतिनिधि का सम्मान करने का निश्चय किया है। वह भी दिगम्बर जैन साधु सान्निध्य में उस सार्वजनिक मंच से, जिसकी एक सशक्त और प्रशस्त परम्परा रही हो।

उक्त मंच से भारिल्ल साहब का सम्मान होने का संकेत प्राप्त कर आश्चर्य हो रहा है। कभी इस मंच की ओर दिल्ली की दिगम्बर जैन

समाज और पूरा देश देखा करता था। क्या आयोजकों ने इस पर विचार करने का कष्ट उठाया है कि इस सम्मान से पूरे देश की दिगम्बर जैन समाज को क्या संकेत और संदेश जायेंगे? हमारा दृढ़ मत है कि कहानजी पंथ पर यह ऐसी मोहर सिद्ध होगी, जो पूरे देश में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जायेगी। आश्चर्य इस बात का भी है कि अनेक परम्परानिष्ठ और तत्त्ववेत्ताओं के रहते हुए भी यह सम्मान की योजना बनी और जहाँ इसकी फलश्रुति के रूप में निश्चित ही **भावी तीर्थंकर** यह देख और जानकर प्रमुदित होंगे कि जो कार्य वे अधूरा छोड़ आए थे उसे उनका **सोनगढ़ मिशन का प्रतिनिधि गणधर** के रूप में पूरा कर रहा है वहीं दिल्ली की दिगम्बर जैन समाज को यह गौरव भी मिलेगा कि उसने एक ऐसी परम्परा के मार्ग को प्रशस्त किया जिसके लिए कहानपंथी चार-पांच दशकों से जूझ रहे थे और जो दिगम्बर परम्परा के लिए वास्तव में घातक था।

इस प्रकार विगत-दशकों में दिगम्बर जैन धर्म के लिए सोनगढ का उदय एक ऐसे जख्म के रूप में उभर कर आया है, जिसने जिनशासन के मूल को ही समाप्त करने का उपक्रम किया है। स्वयम्भू तीर्थकर के बाद चम्पा बहिन और उसके बाद सोनगढ़ मिशन के प्रतिनिधि के माध्यम से चलने वाले कूटनीतिक चालों से जैनागम को जो आघात पहुँचा है उसकी भरपाई तो क्रमबद्ध पर्याय से नहीं होने वाली। अब भी, यदि लोग नहीं चेते तो दिगम्बर जैन धर्म के मूल स्वरूप का भावी रूप निश्चित रूप से ऐकान्तिक अध्यात्म परक होगा और चारित्र-जो जैन धर्म का प्राण है-उसकी घोर उपेक्षा होगी। अस्तु, इस **सोनगढ़ (कांजीपंथ) के नासूर** को फैलने से पहले ही आप्रेशन की सक्षम पहल होनी चाहिए तभी भगवान् महावीर के 2600वे जन्मोत्सव को मनाने की सार्थकता होगी।

कहीं ऐसा न हो कि भावावेश में हम अपने विवेक को भूल जायें और आने वाली पीढ़ियां हमें क्षमा न करें क्योंकि इस भूल का फिर निराकरण चाहकर भी नहीं कर सकेंगे।

-261/3, पटेल नगर, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर-251001

भगवान् महावीर की अहिंसा के निहितार्थ

- डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'

आज विज्ञान को श्रेय देने की होड़ है; किन्तु विज्ञान ने जो दिया वह हिंसा का कारक और कारण अधिक है, अहिंसा का कम। सबसे बड़ा विज्ञान तो अहिंसा का विज्ञान है, जो सबको सुख देता है और सबको सुखी रहने देता है। प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक रोम्या रोला ने लिखा है कि- "The Rishis who discover the Law of Non Violence amongst the violence have greater genious than Newton and they are greater warrior the Wellington." अर्थात् जिन ऋषियों ने हिंसा के सिद्धान्त में से अहिंसा के सिद्धान्त का आविष्कार किया वे न्यूटन से बड़े वैज्ञानिक एवं बेलिंगटन से बड़े योद्धा थे। इस दृष्टि से संसार के सुपर वैज्ञानिक एवं योद्धा भगवान् महावीर ठहरते हैं, जिन्होंने हिंसक वातावरण और हिंसकों की बहुलता की परवाह न करते हुए अहिंसा को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनका यह निषेधात्मक स्वर सबसे बड़ा विधेयात्मक स्वर बन गया, जिसने विगत लगभग 2600 वर्षो में जन-जीवन, पशु-प्रकृति, जलचर, नभचर, भूचर, सभी के अस्तित्व की रक्षा सुनिश्चित की। क्रूर आततायियों की हिंसा भी इस स्वर को दबा नहीं पायी।

भगवान् महावीर ने कहा कि प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणघात करना हिंसा है-"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।" यह हिंसा दो प्रकार की कही गयी है-(1) द्रव्यहिंसा (2) भावहिसा। किसी जीव का शरीर से घात कर देना, मार डालना या उसके अंग-उपांगों को पीड़ा पहुंचाना द्रव्य हिंसा है, इसे कायिकी हिंसा भी कहते हैं। अपने मन से किसी के प्राण हरने, दुःख पहुंचाने, यातना देने का विचार करना भाव हिंसा है। हिंसा के चार अन्य भेद भी कहे गये हैं-(1) आरम्भी हिंसा (2) उद्योगी हिंसा (3) संकल्पी हिंसा (4) विरोधी हिंसा। इनमें से गृहस्थ आरम्भी हिंसा गृहस्थोचित कार्यो की अनिवार्यता के कारण बचा नहीं पाता, उद्योगी हिंसा से भरसक बचने का प्रयत्न करता है, विरोधी हिंसा कभी-कभार मजबूरी

में करता है, किन्तु संकल्पी हिंसा का पूर्णतया त्याग कर सद्गृहस्थ बनता है।

प्रायः द्रव्यहिंसा कम होती है, किन्तु भावहिंसा अधिक होती है क्योंकि उसका सम्बन्ध विचारों से है। कहा भी है-

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वधः॥

अर्थात् प्रमादी मनुष्य अपने हिंसात्मक भाव के द्वारा आप ही अपने की हिंसा पहले ही कर डालता है, उसके बाद दूसरे प्राणियों का उसके द्वारा वध हो या न हो। अन्यत्र भी कहा है-

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे अयत्नाचारी के नियम से हिंसा होती है। यदि कोई संयमी अपने आचरण के लिए प्रयत्नशील है, जो (द्रव्य) हिंसा मात्र से उसे कर्मबन्ध नहीं होता।

उक्त स्थिति को देखते हुए सभी को भाव हिंसा से बचना चाहिए। अहिंसा का उद्देश्य तो जीवदया है। कहा है कि-

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत्॥

अर्थात् जिसके हृदय में जीवों की दया नहीं है उसके सच्चरित्र कहां से हो सकता है? जो जीवों से द्रोह करने वाले लोग हैं, उनकी कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती।

एक की अल्प हिंसा, हिंसा के तीव्रभाव होने के कारण बहुत अधिक पापरूप फल देती है, जबकि महाहिंसा भी हिंसा के मन्दभाव होने के कारण परिपाक के समय न्यून फल देने वाली होती है। आचार्य कहते हैं-

एकस्य सैव तीव्रं दिशतिफलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले॥

अर्थात् एक-सी ही हिंसा एक को तीव्र फल देती है और दूसरे को मंदफल। जिन दो मनुष्यों ने मिलकर हिंसा की हो उनके फल में समानता

नहीं, अपितु विचित्रता देखी जाती है और इसका कारण भावों की विषमता है।

द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा को इस रूप में भी अभिव्यक्त किया गया है -

उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो विदेसिदो समये।
जम्हा सो अपमत्तो सा उ पमाउ त्ति णिद्दिट्ठा।।

-गमन सम्बन्धी नियमों का सावधानी से पालन करने वाले संयमी ने जब अपना पैर उठाकर रखा, तभी उसके नीचे कोई जीव-जन्तु चपेट में आकर मर गया, किन्तु इससे शास्त्रानुसार उस संयमी को लेशमात्र भी कर्मबन्धान नहीं हुआ; क्योंकि संयमी ने प्रमाद नहीं किया; और हिंसा तो प्रमाद से ही होती है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा की शक्ति को पहचाना। उन्हीं की भावनानुसार महात्मा गांधी कहा करते थे कि-"अहिंसा कायर का नहीं, बलवान का शस्त्र है।" अहिंसा का लक्ष्य शान्ति की स्थापना है चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य। संसार में अनेक प्रकार के धर्म प्रचलित हैं, किन्तु उन सब धर्मो का यदि लघुत्तम निकाला जाय तो वह अहिंसा ही होगा; भले ही वे इसे स्थूल रूप में मानते हों या सूक्ष्म रूप में। मनुष्य तो क्या तिर्यञ्च भी अहिंसा को स्वीकारते हैं। यहां तक कि क्रूरतम प्राणियों में भी अहिंसक भावना विद्यमान होती है। बिल्ली और शेरनी भी अपने बच्चों को नहीं खाते। अहिंसा कायरता नहीं है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार-"यह जमाना हथियार बन्द कायरता का है। कायरता ने अपने हाथ में हथियार इसलिए रखे हैं कि वह दूसरों के हमलों से डरती है और स्वयं हथियार इसलिए नहीं चलाती क्योंकि उसकी हिम्मत नहीं होती। जो डर के मारे हथियार चला नहीं पाती, उसी का नाम कायरता है। इस कायरता से इंसान को उबारने वाली एक ही शक्ति है और उसका नाम है-अहिंसा।"

हिंसा किसी भी समस्या का समाधान न कभी थी, न कभी हो सकती है। कभी-कभी हिंसा में हो रही वृद्धि देखकर व्यक्ति परेशान हो उठता है, किन्तु वास्तविकता में हिंसा हार रही है। 'हिरोशिमा' और 'नागासाकी'

पर हुआ अणुबम का प्रहार भी जापान को नष्ट नहीं कर पाया। आज तो हिंसक लोगों की भी हिंसा से आस्था उठ चुकी है। वे भी शान्ति की तलाश में अहिंसा का पक्ष लेते हुए संवाद स्थापित कर रहे हैं। हिंसा का विकल्प अहिंसा ही है। स्वमत की प्रशंसा और दूसरों के मत की निन्दा से हिंसा जन्मती है। शास्त्रकार हिंसा को नीचगति और अहिंसा को उच्चगति का कारण मानते हैं।

वस्तुत: अहिंसा एक जीवन शैली है जो कहती है-तुम भी जियो और मुझे भी जीने दो। इसी में सबका भला है, समाज का हित भी इससे सुरक्षित होता है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अहिंसा की आवश्यकता प्रतिपादित की और इस सम्बन्ध में जैनों का आह्वान करते हुए कहा कि-"जैनधर्म ने संसार को अहिंसा की शिक्षा दी है। किसी दूसरे धर्म ने अहिंसा की मर्यादा यहां तक नहीं पहुंचायी। आज संसार को अहिंसा की आवश्यकता महसूस हो रही है; क्योंकि उसने हिंसा के नग्न ताण्डव को देखा है और आप लोग डर रहे है; क्योंकि हिंसा के साधन आज इतने बढ़ते जा रहे हैं और इतने उग्र होते जा रहे हैं कि युद्ध में किसी के जीतने या हारने की बात इतने महत्त्व की नहीं होती जितनी किसी देश या जाति के सभी लोगों को केवल निस्सहाय बना देने की ही नहीं, पर जीवन के मामूली सामान से भी वंचित कर देने की होती है। जिन्होंने अहिंसा के मर्म को समझा है, वे ही इस अंधकार में कोई रास्ता निकाल सकते हैं। जैनियों का आज मनुष्य समाज के प्रति सबसे बड़ा कर्त्तव्य यह है कि वह इस पर ध्यान दें और कोई रास्ता ढूंढ़ निकालें।"

आज जबकि चहुंओर मोहभंग का दौर चल रहा है। प्रभूत धन भी सुख नहीं दे पा रहा है; तब गृहस्थ जीवन को अहिंसा का संबल देकर ही बचाया जा सकता है। संयम, अनुशासन, निर्लोभता, श्रमशीलता और स्वावलम्बन अहिंसा के आधार हैं। सुख की चाह रखने वाला इनसे बच नहीं सकता। संसार में मार्ग बहुत हैं किन्तु सन्मार्ग तो वही है जिसमें तुच्छ से तुच्छ प्राणी की रक्षा का ध्यान रखा जाये। अहिंसक व्यक्ति यही ध्यान रखता है। अत: अहिंसा ही परम धर्म है।

प्रधान सम्पादक-पार्श्वज्योति
एल-65, न्यू इन्दिरा नगर, बुरहानपुर-450331 (म.प्र.)
फोन 07325-57662

कटोरी सीधी या उलटी

– पूर्व न्यायमूर्ति एम.एल. जैन

लोक शिखर तनुवात वलय महँ संठियो
धर्मद्रव्यबिन गमन न जिहिं आगे कियो। –रूपचन्द

सिद्ध जीव लोकान्त में तनुवातवलय में स्थित हैं।
अष्ट करम करि नष्टअष्ट गुण पायकैं
अष्टम वसुधा माहिं विराजे जायकैं –हीरा

सिद्ध जीव अष्टम वसुधा में जाते हैं।

सिद्ध आत्माएं जहां रहती है क्या उसका सही नाम सिद्ध शिला है? सिद्ध शिला का आकार क्या है? पूजा में कैसा होना चाहिए उसका प्रतीक? आचार्य विद्यासागर जी ने प्रचलित अर्द्धचन्द्रकार प्रतीक È के विपरीत विचार प्रगट करके इसका आकार छत्र की भांति Ç इस प्रकार होना तय कर दिया है। इसी सूत्र को पकड़ कर श्री रतन लाल जी बैनाड़ा ने जैन गजट 18.2.1999 पृ. 5 कालम 1-3 में बताया कि इसका प्रतीक Ç ही शास्त्र सम्मत है, किन्तु अब शोधादर्श 41/156 पर ब्र. श्री अशोक जैन ने अफसोस जाहिर किया है कि पुराना È प्रतीक लोग छोड़ने लगे हैं। इस दुविधा की हालत में मैं भी कुछ निवेदन करना चाहता हूँ –

1. मोक्ष शिला, सिद्ध शिला, निर्वाण शिला, इस नाम की शिला यदि कोई है, तो यह मध्य लोक की वह शिला है, जिस पर तीर्थकरों ने बैठकर या खड़े रहकर अपनी अंतिम तपस्या में लीन होकर शरीर त्याग कर मोक्ष की ओर प्रयाण किया था। इसका जिकर पुराणों में इस प्रकार है –

गुणभद्र (803-895) के उत्तर पुराण सर्ग 54/269-272 में वर्णन है कि भगवान् चन्द्रप्रभ सारे आर्य देशों में तीर्थ प्रवर्तन कर सम्मेद शिखर पहुंचे और वहां –

विहारमुपसंहृत्य मासं सिद्धशिलातले।
प्रतिमा योग मासाद्य सहस्त्रमुनिभिस्सह॥ -54/270

अयोग पदमासाद्य तुर्य शुक्लेन निर्हरन्।
शेष कर्माणि निर्लुप्त शरीर परमोऽभवत्॥ -54/272

वे विहार बंद करके एक हजार मुनियों के साथ सिद्ध शिला पर स्थित होकर प्रतिमा योग धारण कर चौथे शुक्लध्यान से अयोग केवली पद प्राप्त करके शेष कर्मो को नष्ट कर निर्लुप्त शरीर परम (सिद्ध) हो गए।

जिनसेन (778-828) के हरिवंश पुराण सर्ग 60/36-37 के अनुसार धीवर पुत्री पूतिगन्धा राजगृह गई और

अत्र सिद्धशिलां वन्द्यां वन्दित्वा च स्थिता सती।
कृत्वा नील गुहायां सा सती सल्लेखनां मृता॥

यहा वन्दना करने योग्य सिद्ध शिला थी उसकी वन्दना कर नीलगुहा में रहने लगी और सल्लेखना करके मृत्यु को प्राप्त हुई।

इसी पुराण के सर्ग 65/14 में लिखा है कि -

उर्जयन्तगिरौ वज्री वज्रेणालिख्य पावनीम्।
लोके सिद्धशिलां चक्रे जिन लक्षण पंक्तिभिः॥

गिरनार पर्वत पर इन्द्र ने वज्र से उकेर कर इस लोक में पवित्र सिद्ध शिला का निर्माण किया और उसे जिनेन्द्र के लक्षणों से युक्त किया।

पद्म पुराण सर्ग 48/186-222 मे वर्णन है कि अनंतवीर्य मुनि ने रावण को बताया कि-

यो निर्वाण शिलां पुण्यामतुलामर्चितां सुरैः।
समुद्यतां स ते मृत्योः कारणत्वं गमिष्यति॥ -186

जो देवों द्वारा पूजित अनुपम पुण्यमयी निर्वाण शिला को उठावेगा वही [illegible] मृत्यु का कारण होगा। यह वृतान्त सुनकर राम लक्ष्मण आदि उस [illegible]शिला के दर्शन के लिए गए और वहां वे सब वन्दना करने लगे कि-

अस्या च ये गता सिद्धिं शिलायां शीलधारिणः।
[illegible]पर्गीताः पुराणेषु सर्व कर्म विवर्जिताः॥ -208

शील को धारण करने वाले जो भी पुरुष इस सिद्ध शिला से सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, उनकी हर बार-बार वन्दना करते हैं।

तभी देवों ने कहा -

शिलायामिह ये सिद्धा ये चानये हतकिल्विषाः।
ये विघ्न सूदना सर्वे भवन्तु तव मंगलम्॥ -211

इस शिला से जो सिद्ध हुए हैं तथा अन्य जिन पुरुषों ने पाप कर्म नष्ट किए हैं वे सब विघ्नसूदन तुम्हारा मंगल करें।

तब लक्ष्मण ने उस शिला को हिला दिया। वे फिर किष्किंधा आए और कहते रहे कि -

सा निर्वाणशिला येन चालयिता समुद्धृता।
उत्सादयत्यं क्षिप्रं रावणं नात्र सं शयः॥ -222

जिसने उस निर्वाण शिला को चलाकर उठा लिया ऐसा वह (लक्ष्मण) शीघ्र ही रावण को मारेगा इसमें संशय नहीं है।

हरिवंश पुराण में सर्ग 5/347-348 में पाण्डुक, पाण्डुकम्बला, रक्ता व रक्तकम्बला ये चार शिलाएं बताई हैं जो अर्द्धचन्द्राकार हैं। तो फिर सिद्धशिला (?) भी वैसी ही होगी।

पाण्डुक शिला के बारे में वीर वर्धमान चरित अधिकार 8/118-119 में कहा भी है कि वह पाण्डुक शिला अर्द्धचन्द्राकार है और ईषत्प्राग्भार आठवीं पृथ्वी के समान शोभती है।

2. मनीषी रतनलाल बैनाड़ा के द्वारा दिए गये उद्धरणों को भी यदि गौर से पढ़ा जाए तो जाहिर होता है कि त्रिलोकसार (गाथा 557) के अनुसार उर्ध्व लोक के अन्त में ईषत्प्राग्भार आठवीं पृथ्वी है -

तम्मज्झे रुप्यमयं छत्तायारं मणुस्स महिवासं।
सिद्धक्खेत्तं मज्झडवेहं कमहीण बेहुलियं॥ -557

उत्ताण ट्ठियमंते पत्तं व तणु तदवरि तणु वादे।
अट्ठगुणड्ढाः सिद्धा तिष्ठिन्ति अणंत सुहतित्ता॥

इसकी टीका में उत्तान छत्र का उत्तान स्थित पात्र या चषक के समान ऐसा अर्थ किया है। इसके मध्य में रजत छत्राकार सिद्धक्षेत्र स्थित है।

कहां है यहां सिद्धशिला का नाम?

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति 8/657 में -

उत्ताण धवल छत्तोवसाणं संठाण सुदरं एदं।
पंचात्तालं जोयण लक्खाणि वाससंजुंत्तं।

यह क्षेत्र (न कि शिला) 45 लाख योजन प्रमाण उत्तान धवल छत्र के सदृश है और सुंदर है।

हरिवंश पुराण 6/128 में -

सोत्तनित महावृत श्वेत छत्रोपमाकृतिः

विशाल गोल सफेद उत्तनित छत्र की आकृति की आठवीं पृथ्वी है-कहां है यहां शिला?

सिद्धान्तसार दीपक 16/4 व प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी पृष्ठ 28 पंक्ति में अवश्य ही ईषत्प्राग्भार (आठवीं भूमि) में बीच में मोक्ष शिला होना बताया गया है। कहां है? यहां भी सिद्ध शिला का नाम?

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 3 पृ. 323-324 पर सिद्ध लोक का वर्णन है न कि सिद्ध शिला का।

इस सिद्ध क्षेत्र के सिलसिले में क्षपणासार गाथा 258 व जय धवला पु. 16 पृ. 193 दोनों में भी सिद्ध शिला का नाम नहीं है। ईषत् प्राग्भार व सुधा का वर्णन है।

भगवान् वृषभ देव के निर्वाण के बारे में आदि पुराण 47/341 लिखता है।

शरीर त्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्व पर्ययम्।
निजाष्टगुण सम्पूर्णः क्षणाप्त तनुवातकः॥

तीनों शरीरों के नाश होने से सिद्धत्व पर्याय प्राप्त कर वे निज के आठ गुणों से युक्त हो क्षण भर में ही तनुवातवलय में जा पहुंचे।

मल्लिनाथ के निर्वाण का वर्णन उत्तर पुराण 66/62 में यों है-

फाल्गुणो ज्जवल पंचम्यां तनुवातं समाश्रयत्

फाल्गुन सुदी पंचमी के दिन तनुवात (वलय) में स्थान ग्रहण कर लिया। यहां भी सिद्ध शिला का जिकर नहीं है।

3. तिलोयपण्णत्ति 8/657, त्रिलोकसार गाथा 557 में 'शिला' का प्रयोग नहीं है, 'क्षेत्र' का प्रयोग है यह भ्रम शायद इसलिए पैदा हुआ है कि तीर्थंकरों का जन्माभिषेक, दीक्षा व ज्ञान आदि कल्याणक बहुधा शिलाओं पर ही हुए हैं।

4. सिद्ध क्षेत्र तो मध्य लोक में अनेक हैं कई तीर्थस्थल कहे जाते हैं पर स्वर्गो के अंतिम छोर के बाद कोई सिद्ध लोक स्थित है, जहां आत्माएं निवास करती हैं। यह तीन लोक के अग्रभाग में वर्तुला कार 45 लाख योजन लम्बा व 12 योजन चौड़ा बताया जाता है वीर वर्धमान चरित 11/109। इस सिद्ध लोक/सिद्धक्षेत्र के विषय में तिलोयपण्णत्ति में बताया है कि यह आठवीं पृथ्वी धनोदधिवात, घनवात और तनुवात इस तीन वायुओं से युक्त है। इसके मध्य भाग में चांदी व सुवर्ण के सदृश और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार क्षेत्र है -

एदाए बहु मज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं
अजुण्ण सवण्ण सरिसं णाणारयणेहि परिपुण्णं। ति.प. 8/556

तिलोय पण्णत्ति (9/3) के अनुसार पृथ्वी के ऊपर 7050 धनुष जाकर सिद्धों का आवास है। यहां पर -

जावद्दं गंदव्वं तावं गंतूण लोय सिहरम्भि।
चेट्ठंति सव्व सिद्धा पुह पुह गयसित्थमूसगब्भणिहा॥ 9-14

जितना जाने योग्य है उतना जाकर लोक शिखर पर सब सिद्ध पृथक् पृथक् मोम से रहित मूषक के अभ्यन्तर आकाश के (याने चूहे के पेट के) सदृश स्थित हो जाते हैं। (चूहे से तुलना करना कुछ अजीब तो लग रहा है।)

इस सब का सार यह जान पड़ता है कि तनुवात वलय के मध्यभाग में नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भर है जिसे आठवीं पृथ्वी कहते हैं। इसके

ऊपर 7050 धनुष जाकर सिद्धों का आवास है, जहां से आगे धर्म द्रव्य का अभाव है। इस लोक का आकार करणानुयोग के ग्रंथ कहते हैं धवल रंग वाला उत्तान छत्र या उत्तान चषक जैसा है जिसका अर्थ ब्र. अशोक जी ने सही किया है। क्या वह शिला सीधी कटोरी की तरह है या उल्टी कटोरी की तरह? उत्तान रंग धवल है तो फिर चंदन केसर से उसकी आकृति बनाना भी समुचित नहीं है।

5. चूंकि सर्व कर्म बंधन मुक्त शुद्ध आत्माओं के भी दो बंधन हैं-(1) वे केवल उर्ध्वगामी ही हो सकती है और (2) वहीं तक जाकर सदा के लिए रुकी रहती है, जहां तक धर्म द्रव्य है। अत: मौजूदा प्रतीक में परिवर्तन ही करना है, तो मेरे हिसाब से इस जगह की सही अवधारणा यों की जानी चाहिए-

गघ वह पंक्ति है जो स्वर्गो का अंतिम छोर है और कख व पंक्ति है जिसके आगे धर्म द्रव्य नहीं है; अत: सिद्ध लोक उक्त कखगघ एक मंजूषा जैसा है। कख व गघ की लम्बाई 45 लाख योजन व कग व खघ की ऊंचाई/चौड़ाई 12 योजन है इसी क्षेत्र को सिद्धालय, मुक्ति धाम, अष्टम वसुधा और शिवपुर विश्राम आदि भी कहते हैं। सिद्धों की पूजाओं में भी सिद्ध शिला का ज़िकर नहीं है। इस मोक्ष स्थान का नाम सिद्ध शिला कब और क्यों चल पड़ा यह विचारणीय है।
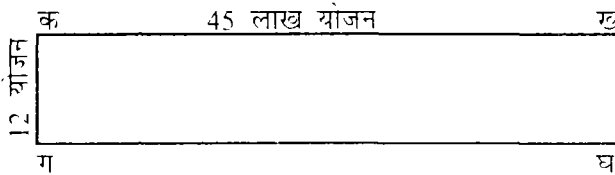
इस सिद्ध लोक के बीच में भगवान ऋषभदेव के 500 धनुष लम्बाई वाले आत्म प्रदेश विराजमान होने चाहिए। पुराणों के अनुसार मानव की यही ज्ञात सबसे अधिक ऊंचाई है और उसके आस पास ही उन आत्माओं के प्रदेश होने चाहिए जो सबसे पहले मुक्ति धाम पहुंची। उसके बाद 'एक में एक समाय' के अनुसार इसी क्षेत्र में असंख्य आत्माएं समाकर अनंत आनन्द का अनुभव कर रही हैं। यदि ऐसा तसव्वुर न किया जाए, तो फिर

यह मानना पड़ जाएगा कि वे असंख्य सिद्ध आत्माएं जगह के लिए आपस में कशमकश कर रही हैं।

6. चूंकि कखगघ जगह सीमाओं से बंधी है इसलिए आत्माएं वहां पर अनंत शायद नहीं कही जा सकती। हां, अनगिनत अवश्य हैं। हालांकि यह भी सही है कि सिद्ध आत्माओं का यहां आना अनादि है, अनंत काल तक यह क्रम चलता भी रहेगा।

बेनाड़ा जी का एक तर्क यह भी है कि अर्द्धचन्द्राकार शिला पर कोई बैठ नहीं सकता। इस का समाधान भी प्रतीक ▭ से हो जाता है। इसके अलावा मोक्ष स्थान में बैठने खड़े होने का सवाल ही कहां पैदा होता है। यदि है, तो उनके प्रतीक ◡ में तो यह और भी मुश्किल है।

7. तो पहली बात तो यह कि सिद्ध क्षेत्र में कोई सिद्ध शिला नाम की शिला नहीं है। सिद्धलोक के लिए शब्द सिद्ध शिला का प्रयोग भ्रम पैदा करता है तथा शास्त्र विपरीत है और बंद होना चाहिए।

8. दूसरी बात है उत्तान शब्द के अर्थ को लेकर। तिलोयपण्णत्ति व त्रिलोकसार दोनों ही प्राकृत के ग्रंथ हैं और प्राकृत शब्द महार्णव में उत्तान का अर्थ उर्ध्वमुख है जिससे नतीजा निकलेगा कि उल्टा छत्र अथवा सीधी कटोरी-सीधा छत्र व उल्टी कटोरी उर्ध्वमुख नहीं होते। सिद्धान्तसार में इसे उत्तान अर्द्ध गोले के समान बताया गया है उससे मतलब है कि पहले गोले को आधा काटिए, तो फिर उर्ध्वमुख एक आधा हिस्सा गोला क्या ऐसा नहीं होगा मानों उल्टा छत्र हो। मोनियर विलियम्स के संस्कृत कोष पृ. 177 कालम 2 में भी उत्तान का अर्थ उर्ध्वमुख लेटा हुआ, वर्तन को ऐसे रखा जाए कि मुंह ऊपर हो ऐसा दिया हुआ है और भला इसके अलावा अर्द्धचन्द्राकार क्या होता है?

9. जब भगवान् वृषभ देव को श्रेयांस कुमार ने हस्तिनापुर में जो ईक्षु का आहार समर्पित किया था उसका वर्णन जिनसेन ने आदिपुराण में इस प्रकार किया है।

श्रेयान् सोमप्रभेणामा लक्ष्मी मत्या च सादरात्।
रसभिक्षोरदात् प्रासु (क) मुत्तानी कृतपाणये॥ -20/100

जिन्होंने अपने दोनों हाथ उत्तान किए थे अर्थात् हाथों को सीधा मिलाकर अंजली (खोवा) बनाई थी ऐसे भगवान् वृषभ देव के लिए श्रेयांस कुमार ने राजा सोमप्रभ व रानी लक्ष्मीमती के साथ आदर पूर्वक ईक्षु के प्रासुक रस का आहार दिया था। मेरे विचार से अब उत्तान शब्द के अर्थ में कोई शंका शेष नहीं रहती। आहार के समय की हाथों की यह स्थिति उर्ध्वमुख ही तो कही जाएगी।

10. फिर भी, प्रतीक तो प्रतीक है; È य Ç र □ ल में से कोई भी चलेगा। पूजा में भावों का महत्व है कि न प्रतीकों का। जिस तरह, तरह-तरह की मूर्तियों को साक्षात् भगवान मानकर पूजा-याचना की जाती है, वैसे ही प्रचलित प्रतीक को सही मानकर पूजा करने में मूल शास्त्रों का कोई उल्लंघन नहीं है, अतः मेरा खयाल है कि इस प्रकार की बहस ही व्यर्थ है, लक्ष्य से डिगाने वाली है। शायद यही कारण है कि उमा (स्वाति) व वट्टकेर ने सिद्ध लोक के क्षेत्रफल आकार आदि का कोई ज़िकर नहीं किया। ऐसी सूरत में स्वर्ग मोक्ष के बारे में श्री सुखमाल चंद जी ने जो विवेचन शोधादर्श 34/56-63 पृ. (व 38/160-161) पर किया है वह बड़ा ही समुचित ठहरता है। मूलाचार 7/44 में वर्णित लोक के नौ भेदों में से एक भाव लोक है याने रागद्वेष भावों के उदय को ही भाव लोक कहते हैं। मुक्ति हो जाने पर (भक्तों के इलावा) किस सिद्ध आत्मा को फ़िकर है कि उसके अनंत कालीन निवास का क्षेत्रफल कितना है और उसका आकार-प्रकार कैसा है। कई बातों में कुछ नवीन करने की इच्छा से बेहतर है कि पुरातन परम्परा व प्रतीक को ही चलते रहने दिया जाए। ऐसा न हो कि कहीं भक्त जन बिना काकूल वजह सीधा छत्र या सीधी कटोरी में उलझकर दो नए पंथों में बंट जाएं।

जो समझ में आया निवेदन कर दिया। भूलचूक माफ़ कर, जानकार महानुभाव मुझ अज्ञानी के इस निवेदन पर भी विचार करने की अनुकम्पा करें और स्थिति को साफ़ कर दुविधा का अंत करें।

-215, मन्दाकिनी एन्क्लेव
अलकनन्दा, नई दिल्ली-110019

आदिपुराण का भाषाई पक्ष

- प्रो. वृषभ प्रसाद जैन

यह निबन्ध कुछ मूलभूत समस्याओं की उद्भावनाओं के साथ प्रारम्भ किया जाना अपेक्षित है क्योंकि आदिपुराण की भाषा किसी भी सामान्य प्रयोक्ता के प्रयोग-जैसी भाषा नहीं है। कोई भी सामान्य भाषा प्रयोक्ता अपने कथ्य को ग्रहीता तक पहुँचाने के लिए माध्यम बनाता है अपने भाषिकोच्चार (Speech Form) को, इसीलिए भाषाविज्ञान में भाषिकोच्चार को ही भाषा के सबसे सटीक अप्रभावित रूप के रूप में लिया जाता है, यही कारण है कि आज के भाषाविज्ञान में उसे विश्लेषण का केन्द्र माना गया है। चूँकि आचार्य जिनसेन के द्वारा रचित आदिपुराण का भाषिकोच्चार रूप आज उपलब्ध नहीं है, इसीलिए भाषिकोच्चार के विश्लेषण करने वाले भाषाविज्ञान के मापक आदिपुराण की भाषा पर लागू नहीं हो सकते। दूसरा कारण यह कि भाषाविज्ञान में सामान्यतया किसी पाठ (Text) के विश्लेषण के लिए वाक्य, उपवाक्य, पदबन्ध, पद, शब्द, रूपिम, ध्वनि आदि घटक छाँटे जाते हैं, क्योंकि ये घटक ही प्रयोक्ता के संदेश-संप्रेषण के माध्यम बनते हैं पर यदि इन भाषाई घटकों के आधार पर आदिपुराण की भाषा को विश्लेषित किया जायेगा तो मुझे लगता है कि आदिपुराण का पाठ रूप इतना खण्डित हो जायेगा या फिर तार-तार हो जायेगा कि फिर उस पाठ को अखण्ड पाठ के रूप में देखना संभव नहीं रह जाएगा और ऐसे विश्लेषण से आदिपुराण के पाठ के कुछ विशिष्ट पक्ष या अनुद्घाटित पक्ष उद्घाटित भी नहीं होंगे। यदि कोई शोधपत्र किसी अनछुये या अज्ञात रूप को उद्घाटित नहीं करता है तो मुझे लगता है कि वह विश्लेषण केवल विश्लेषण के लिए है, किसी प्रयोजन के लिए नहीं; इसीलिए वह शोधपत्र भी नहीं रह जाता। इसीलिए मैं समझता हूँ कि पहले आदिपुराण की भाषा की प्रकृति को समझा जाये, तब उसके विश्लेषण के आयामों को स्थिर किया जाय और फिर उसके बाद तदनुसार विश्लेषण।

यदि कुल सामान्य भाषाई प्रयोगों को देखा जाए तो वे प्रमुख रूप से दो रूपों में होते हैं; एक-भाषा के किसी भी वक्ता या बोलने वाले की भाषा के प्रयोग और दूसरे-रचनाकार की भाषा के प्रयोग। चूँकि आदिपुराण की भाषा सामान्य भाषा-प्रयोक्ता की भाषा भर नहीं है, वह है रचनाकार की भाषा भी, इसीलिए रचनाकार की भाषा की प्रकृति को समझते हुए ही आदिपुराण को विश्लेषित किया जाना अपेक्षित है। मैं भाषा की संगठन प्रक्रिया या निर्माण-प्रक्रिया में दो प्रक्रियाओं को निहित मानता हूँ। एक भाषा की वह सामान्य गठन-प्रक्रिया जिसमे सामान्य भाषा-प्रयोक्ता की भाषा जन्म लेती है, इसे प्रजनित या पश्चिमी शब्दावली में Generation की भाषा कह सकते हैं और इसकी प्रक्रिया को Generation की प्रक्रिया अर्थात् प्रजनन प्रक्रिया क्योंकि इसमें भाषा के घटक अर्थात् भाषा की प्रत्येक इकाई व्याकरण के नियमों से पूरी तरह बँधकर चलती है, इसीलिए इसमें विचार से भाषिकोच्चार की प्रक्रिया पूरी तरह निश्चित होती है, इसके चरण निश्चित होते हैं। जबकि रचनाकार की भाषा व्याकरण के नियम में पूरी तरह बँधी नहीं होती, वह अनेकत्र व्याकरण के नियमों को लाँघकर रची जाती है पर व्याकरण के नियमो को पूरी तरह नकारकर नहीं। यदि ऐसा न हो तो रचनाकार अपने पाठ में नये अर्थ की सर्जना नहीं कर सकता और किसी भी रचना का सबसे बड़ा मापक यह होता है कि वह जितनी बार पढ़ी जाए, उतनी बार नये-नये रमणीक अर्थ की प्रतीति कराये। जो रचना इस नये रमणीय अर्थ की प्रतीति कराने में जितनी सबल होती है वह रचना उतनी बड़ी होती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि रचनाकार की भाषा सृजन/सर्जन की भाषा होती है और इसीलिए वह प्रजनन प्रक्रिया के साथ-साथ सृजन/सर्जन प्रक्रिया से निर्मित होती है। रचनाकार कई बार बहुत जगहों पर व्याकरण के नियमो से बँधा रहता है पर बहुत जगहों पर व्याकरण के नियमों को छोड़कर चलता है। वहीं अनेकत्र सामान्य भाषाई व्याकरण के नियमों को तोडकर काव्यभाषाई व्याकरण की रचना करता है। आदिपुराण की भाषा इसी तरह की भाषा-सी लगती है।

काव्यभाषाई व्याकरण का पहला आधार है छंदोबद्धता और आदिपुराण की भाषा छंदोबद्ध है भी। प्रश्न उठता है कि जहाँ कोई विषय छंदों में निबद्ध है तो क्या उस विषय को पुरस्सर करने वाली रचना काव्य

कहलाएगी और उसकी भाषा काव्यभाषा? यदि इसका उत्तर 'हाँ' में मान लिया जाए तो सारे धर्मशास्त्र, सारे दार्शनिक ग्रंथ, सारे कारिका ग्रंथ व सारे शास्त्र काव्य की कोटि में आने लग जाएंगे और इस प्रकार अतिव्याप्ति हो जाएगी, इसलिए केवल छंदोबद्ध भाषा के आधार पर आदिपुराण को काव्य मानना समीचीन नहीं लगता।

चूँकि काव्य होने के बहुत सारे अभिलक्षणों में से छंदोबद्धता भी एक अभिलक्षण तो है ही, अतः काव्यभाषा के अन्य अभिलक्षणों को आदिपुराण की भाषा में तलाशा जाना चाहिए और तब निर्णय किया जाना चाहिए कि यह काव्य है या नहीं? .... अब प्रश्न उठता है कि काव्य होने के या काव्यभाषा होने के अन्य अभिलक्षण क्या हैं? वस्तुतः ध्यान से देखा जाए तो इस बिन्दु पर भी हमें अनेक मत देखने को मिलते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि पहले काव्यत्व के/काव्यभाषात्व के मानकों को स्थिर किया जाए और फिर उनके आधार पर आदिपुराण की काव्यभाषा का परीक्षण किया जाए; लेकिन यह भी आसान नहीं है, इसीलिए तो आचार्य जिनसेन स्वयं कहते हैं कि -

केचित् सौशब्द्यमिच्छन्ति केचिदर्थस्य संपदम्।
केचित् समासभूयस्त्वं परे व्यस्तां पदावलीम्।।1/78।।
मृदुबन्धार्थिनः केचित् स्फुटबन्धैषिणः परम्।
मध्यमा केचिदन्येषां रुचिरन्यैव लक्ष्यते।।1/79।।
इति भिन्नाभिसन्धित्वाद्दराराधा मनीषिणः।।1/80।।

अर्थात् कोई शब्दों की सुन्दरता को पसन्द करते हैं, कोई मनोहर अर्थसम्पत्ति को चाहते हैं, कोई समास की अधिकता को अच्छा मानते हैं और कोई मृदुल-सरल रचना को उत्कृष्ट मानते हैं, कोई कठिन रचना को चाहते हैं, कोई मध्यम श्रेणी की रचना पसन्द करते हैं और कोई ऐसे भी हैं, जिनकी रुचि सबसे विलक्षण अनोखी है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न होने के कारण बुद्धिमान् पुरुषों को प्रसन्न करना कठिन कार्य है, जोकि वस्तुतः काव्यभाषा का प्रयोजन है।

मुझे लगता है कि उपर्युक्त भिन्न-भिन्न मान्यताओं के कारण काव्यभाषा के मापकों के निर्धारण में आवश्यक है कि हम यह देखें कि आचार्य

जिनसेन ने स्वयं किन अभिलक्षणों को काव्यभाषा के मापक के रूप में स्वीकारा है। द्रष्टव्य हैं-प्रथम पर्व के निम्नांकित श्लोक-

कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते।
तत्प्रतीतार्थमग्राम्यं सालंकारमनाकुलम्।
केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम्।
वाचालमलंक्रियां प्राहुस्तद्द्वयं नो मतं मतम्।
सालंकारमुपारूढ़रसमुद्भूतसौष्ठवम्।
अनुच्छिष्टं सतां काव्यं सरस्वत्या मुखायते।।1/94-96।।

आचार्य जिनसेन कहते हैं कि कवि का भाव या कार्य काव्य है। यह भाव या कार्य वस्तुतः भाषारूप होता है, इसलिए कवि की भाषा ही काव्य होती है। वे आगे मानते हैं कि कवि का काव्य या उसकी भाषा सर्वसम्मत अर्थ से सहित अर्थात् प्रतीकार्थवाचक, ग्राम्य दोष से रहित, अलंकारों से युक्त और प्रसाद आदि गुणों से शोभित अर्थात् अनाकुल होनी चाहिए। काव्यशास्त्री मम्मट की तरह वे भी उल्लिखित करते हैं कि कितने ही विद्वान् अर्थ की सुन्दरता को वाणी का अलंकार कहते हैं और कितने ही पदों की सुन्दरता को, किन्तु उनका मत है कि अर्थ और पद दोनों की सुन्दरता ही वाणी का अलंकार है। सज्जन पुरुषों का बनाया हुआ जो काव्य अलंकार सहित, श्रृंगारादि रसों सं युक्त, सौन्दर्य से ओत-प्रोत और उच्छिष्टता रहित अर्थात् मौलिक होता है, वह काव्य सरस्वती देवी के मुख के समान शोभायमान होता है। जिस प्रकार शरीर में मुख सर्वप्रधान अंग है, इसके बिना शरीर की शोभा नहीं; ठीक उसी प्रकार सभी शास्त्रों में काव्य प्रधान है, यह है-आचार्य जिनसेन की काव्यभाषा की कसौटी। वस्तुतः है भी यही, इसीलिए तो काव्य में न केवल संरचना ही प्रधान है और न काव्यार्थ ही, दोनों की सम्यक्युति ही काव्य है और वही काव्यभाषा का निर्माण करती है। बात इतनी ही नहीं, ये भी कविता को स्फुट काव्य, प्रबन्ध काव्य, महाकाव्य के भेद के रूप में मानते हैं, और कहते हैं कि जिस प्रकार महावृक्षों की छाया से मार्ग की थकावट दूर हो जाती है और चित्त हल्का हो जाता है, उसी प्रकार महाकवियों की काव्यभाषा के परिशीलन से अर्थाभाव से होने वाली खिन्नता दूर हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है। प्रतिभा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज,

प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएँ हैं और उत्तम शब्द ही जिसके उज्जवल पत्ते हैं-ऐसा यह महाकविरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमंजरी को धारण करता है अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे हैं, प्रसाद आदि गुण ही जिसमें लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नों से भरा हुआ है, जो उच्च और मनोहर शब्दों से युक्त है तथा जिसमें गुरु-शिष्य-परम्परा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है-ऐसा यह महाकवि समुद्र के समान आचरण करता है। यथा-

प्रज्ञामूलो गुणोदग्रस्कन्धो वाक्पल्लवोज्ज्वलः
महाकवितरुर्धत्ते यशःकुसुममंजरीम्॥1/103॥
प्रज्ञावेलः प्रसादोर्मिर्गुणरत्नपरिग्रहः
महाध्वानः पृथुस्त्रोताः कविरम्भोनिधीयते॥1/104॥
यथोक्तमुपयुंजीध्वं बुधाः काव्यरसायनम्।
येन कल्पान्तरस्थायि वपुर्वः स्याद् यशोमयम्॥1/105॥
यशोधनं चिचीर्पूणां पुण्यपुण्यपणायिनाम्।
परं मूल्यमिहाम्नातं काव्यं धर्मकथामयम्॥1/106॥

महाकान्तिमान् महाराज वज्रबाहु एक दिन अपने ही राजमहल की अट्टालिका पर बैठे हैं, पुत्र वज्रजंघ आनी नवविवाहिता पत्नी श्रीमती के साथ रमण में लीन है, अचानक महाराज की दृष्टि जाती है शरद् ऋतु के उठते बादल पर..बादल का उत्थान इतना मनोहर है कि महाराज के रोम-रोम को पुलकित कर देता है और घेर लेता है महाराज को ही नहीं, बल्कि उनके सम्पूर्ण राजप्रासाद को, महाराज यह देख ही रहे हैं, वे उसकी सुन्दरता से अपने मन को अभी भर भी नहीं पाए हैं कि बादल क्षण भर में ही विलीन हो जाता है और उस बादल का विलीन होना महाराज को भीतर तक झकझोर देता है और उन्हें सहज वैराग्य की ओर उन्मुख कर देता है, बड़ा मार्मिक है दृश्य, बड़ी तुली हुई, मंजी हुई, सधी हुई भाषा है दृश्य की, एक-एक शब्द, एक-एक ध्वनि ऐसे बँधे हैं कि वे दृश्य के कोर-कोर का प्रत्यक्ष कराना चाहते हैं अपने पाठक को। यथा-

अथान्येद्युर्महाराज वज्रबाहुर्महाद्युतिः।
शरदम्बुधारोत्थानं सौधाग्रस्थे निरूपयन्॥8/50॥
दृष्ट्वा तद्विलयं सद्यो निर्वेदं परमागतः।
विरक्तस्यास्य चित्तेऽभूदिति चिन्ता गरीयसी॥8/51॥

पश्य नः पश्यतामेव कथमेष शरद्घनः।
प्रासादाकृतिरुद्भूतो विलीनश्च क्षणान्तरे।।8/52।।
संपदभ्रविलायं नः क्षणादेषां विलास्यते।
लक्ष्मीस्तडिद्विलोलेयं इत्वर्यो यौवनश्रियः।।8/53।।
आपातमात्ररम्याश्च भोगाः पर्यन्ततापिनः।
प्रतिरक्षणं गलत्यायुर्गलन्नालिजलं यथा।।8/54।।
रूपमारोग्यमैश्वर्यमिष्टबनधुसमागमः।
प्रियाङ्गनारतिश्चेति सर्वमप्यनवस्थितम्।।8/55।।

इन छन्दों की भाषा के शब्दों को महाकवि कई स्रोतों से लेते हैं। हम श्लोक 54 के प्रथम "आपात" शब्द की बात करते हैं, अमरकोशकार ने इसे नहीं संजोया, पर भाषा में बहुप्रचलित है, इसलिए विश्वलोचनकोशकार से यह नहीं छूटता और नहीं छूटता महाकवि जिनसेन से भी क्योंकि सर्वसम्मत अर्थ के वाहक शब्दों को संजोना है न उन्हें अपनी काव्यभाषा में। कविवर जिनसेन संसार के जनों की स्थिति पर सटीक टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि जबकि सज्जनों का धन गुण है और दुर्जनों का धन दोष, तब फिर उन्हें अपना-अपना धन ग्रहण कर लेने देने में भला कौन बुद्धिमान् पुरुष बाधक होगा? इसी क्रम में वे अपने काव्यरूप के सन्दर्भ में कहते हैं कि दुर्जन पुरुष हमारे काव्य से दोषों को ग्रहण कर लें, जिससे हमारे काव्य में गुण-गुण ही रह जायें-यह बात हमको अत्यन्त इष्ट है क्योंकि जिस काव्य से समस्त दोष निकाल दिये गए हों, वह काव्य निर्दोष होकर उत्तम हो जायेगा। प्रकारान्तर से उनकी मान्यता है कि उत्तम काव्यभाषा सज्जनचित्तवल्लभ होती है।

यतो गुणधनाः सन्तो दुर्जना दोषवित्तकाः।
स्वधनं गृह्वतां तेषां कः प्रत्यर्थी बुधो जनः।।1/84।।
दोषान् गृह्णन्तु वा कामं गुणास्तिष्ठन्तु नः स्फुटम्।
गृहीतदोषं यत्काव्यं जायते तद्धि पुष्कलम्।।1/85।।

आगे कविवर जिनसेन रचनाकार की रचना प्रक्रिया या यूँ कहें काव्यभाषा के गढ़ने की प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि कोई भी रचनाकार किसी भी भाषा का क्यों न हो, उसके सम्मुख अनन्त मौलिक प्रयोगरूप अनंत शब्दराशि होती है, उस अनंत शब्दराशि के

माध्यम से वह जिस अर्थ को चाहे उस अर्थ को व्यक्त कर दे, इसलिए अर्थ निर्णय भी उसके अधीन होता है और संसार में चूँकि अर्थ रूप विषय अनंत हैं, इसलिए कविता कामिनी की भाषा के नवरस भी बड़े स्फुट बड़े स्पष्ट होते हैं और जब ये तीनों चीजें स्पष्टतया रचनाकार को प्राप्त हो रही हों तो रचना की भाषा को बाँधाने वाली जटिल से जटिल छंदों की व्यवस्था भी उसे बड़ी आसानी से लभ्य हो जाती है, क्योंकि रचनाकार छंदशास्त्र का विधिवत् अधिकारी तो होता ही है, इसीलिए बारहवें पर्व में कविवर जिनसेन ने ऐसे-ऐसे जटिल छंदों को प्रस्तुत किया है, जिससे लगता है मानों वे अलभ्य या कष्टलभ्य छंदों का शास्त्र ही रच रहे हों (निगूढ़ार्थक्रियापादैः बिन्दुमात्राक्षरक्ष्युतैः। देव्यस्तां रञ्जयामासुः श्लोकैरन्यैश्च कैश्चन ।।12/213।।) इसके बाद भी यदि किसी रचनाकार से उत्तम कवितारूप भाषा का सर्जन नहीं होता तो आचार्य जिनसेन की मान्यतानुसार इससे बड़ी दरिद्रता और क्या होगी अर्थात् रचनाकार को उत्तम काव्यभाषामई रचना की गढ़ना चाहिए।

इस प्रकार कुल मिलाकर बात यह निकलकर आती है कि आचार्य जिनसेन के अनुसार काव्यभाषा प्रसाद आदि गुणों से युक्त, अलंकारों से सज्जित, नई उद्भावना रूप मूलभावनाओं से युक्त अर्थात् मौलिक, प्रतीकार्थव्यंजक सज्जनचित्तवल्लभ रूप अभिलक्षणों से युक्त होती है।

आदिपुराण की काव्यभाषा अधिकांशतः प्रसाद और माधुर्य गुणों से ओतप्रोत अलंकारमयी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त तो छंद-छंद में पग-पग पर देखने को मिल जाते हैं, पर परिसंख्या जैसे अलंकार भी कविवर से नहीं छूटते। इसलिए तो वे गन्धिला देश का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वहाँ के मनुष्यों की प्रीति पात्रदान आदि में ही थी, विषय वासनाओं में नहीं। उनकी शक्ति शील व्रत की रक्षा के लिए ही थी निर्बलों को पीड़ित करने के लिए नहीं और उनकी रुचि प्रोषधोपवास धारण करने में ही थी वारांगनाओं आदि विषय के साधनों में नहीं।

यत्र सत्पात्रदानेषु प्रीतिः पूजासु चार्हताम्।
शक्तिरात्यन्तिकी शीले प्रोषधे च रतिर्नृणाम्।।4/57।।

पर इस आलंकारिकता की उद्भावनायें भी कवि की अनूठी हैं इसीलिए वे बगीचे में होती कोकिलाओं की मधुर ध्वनि में ऐसी उद्भावना करते हैं मानों वह कूकध्वनि फलों का सेवन कराने के लिए पथिकों का आह्वान कर रही हो। कैसे अनूठे भाव को शब्द दिया है रचनाकार ने!

यत्रारामाः सदा रम्यास्तरुभिः फलशालिभिः।
पथिकानाह्वयन्तीव परपुष्टकलस्वनैः।।4/59।।

अन्तिम कुलकर नाभिराय के समय में आकाश में घनी घटाओं का दिखना, उससे जल वृष्टि होना तथा नदी, निर्झर आदि के प्रवाहित होने का वर्णन करती भाषा बड़ी सीधी है पर है अलंकारमयी इसीलिए उपमायें भी हैं, उत्प्रेक्षायें भी और श्लेष भी। कवि एक उपमा से न तो स्वयं तृप्त होता है और न अपने पाठक का तृप्त पाता है, इसीलिए इसकी श्रृंखला रचता है। यथा-

चातका मधुरं रेणुरभिनन्दा घनागमम्।
अकस्मात्ताण्डवारम्भमातेने शिखिनां कुलम्।।3/170।।
अभिषेक्तुमिवारब्धा गिरीनम्भेमुचां चयाः।
मुक्तधारं प्रवर्षन्तः प्रक्षरद्धातुनिर्झरान्।।3/171।।
क्वचिद् गिरिसरित्पूराः प्रावर्तन्य महारयाः।
धातुरागारुणा मुक्तारक्तमोक्षा इवाद्रिषु।।3/172।।
ध्वनन्तो ववृषुर्मुक्तस्थूलधारं पयोधराः।
रुदन्त इव शोकार्ताः कल्पवृक्षपरिक्षये।।3/173।।
मार्दङ्गिककरास्फालादिव वातनिघट्टनात्।
पुष्करेष्विव गम्भीरं ध्वनत्सु जलवाहिषु।।3/174।।
विद्युन्नटी नभेरङ्गे विचित्राकारधारिणी।
प्रतिक्षणविवृत्ताङ्गी नृत्तारम्भमिवातनोत्।।3/175।।
पयः पयोधरासक्तैः पिबद्भिरवितृप्तिभिः।
कृच्छलब्धमतिप्रीतैश्चातकैरर्भकायितम्।।3/176।।

काव्यभाषा का चरम लक्ष्य होता है संवेदनशील ग्रहीता के हृदय में रसोद्रेक करना। सामान्यजन अपने लोकजन्य कष्टों के निवारणार्थ प्रभु के पास जाता है, प्रभु की दिव्य वाणी खिरने वाली है, वह जैसे ही भक्ति विह्वल होकर प्रभु के चरणों में प्रणाम करता है तो प्रणाम करते ही उसे

लगने लगता है कि आकाशगंगा के जल के समान स्वच्छ प्रभु के चरणों के नखों की किरणें जब उसके सिर पर पड़ रही हैं तो ऐसी लगती हैं मानों वे उसका सब ओर से अभिषेक ही कर रही हों। यह है भक्ति की पराकाष्ठा और उत्प्रेक्षा का भी अतुलनीय रूप कि भक्त इतना तक भूल जाता है कि प्रभु का अभिषेक करना उसकी दैनन्दिन क्रिया है, प्रभु की नहीं; इसीलिए तो उसे लगता है कि प्रभु की नख-किरण रूप आकाश-जल-धारायें उसका अभिषेक करा रहीं हैं। यह है कवि जिनसेन की काव्यभाषा में व्यक्त भक्तिरस की पराकाष्ठा और उत्प्रेक्षा की उत्तम अभिव्यक्ति को लिए उनकी काव्यभाषा।

पुण्याभिषेकमभितः कुर्वनतीव शिरस्सु नः।
व्योमगङ्गाम्बुसच्छाया युष्मत्पादनखांशवः।।2/5।।

इतना ही नहीं, भक्त आगे और कहता है कि हे भगवन्। जिस प्रकार सूर्य रात में निमीलित हुए कमलों को शीघ्र ही प्रबोधित/विकसित कर देता है उसी प्रकार आपने अज्ञान रूपी निद्रा में निमीलित/सोये हुए इस समस्त जगत् को प्रबोधित/जागृत कर दिया है। हृदय में जिस अज्ञानरूपी अंधकार को चन्द्रमा अपनी किरणों से छू तक नहीं सकता और सूर्य भी जिसका संस्पर्श तक नहीं कर सकता, उसे आप अपने वचन रूपी किरणों से अनायास ही नष्ट कर देते हैं। यह है प्रभु और सन्मार्गी प्रभुभक्त की यथार्थस्थिति। जो लोक के असंभव को संभव बना देती है, इसलिए है यथार्थ के साथ-साथ पारलौकिक भी।

त्वया जगदिदं कृत्स्नमविद्यामीलितेक्षणम्।
सद्यः प्रबोधमानीतं भास्वतेवाब्जिनीवनम्।।2/7।।
यन्नेन्दुकिरणैः स्पृष्टमनालीढं रवेः करैः।
तत्त्वया हेलयोदस्तमन्तर्ध्वान्तं वचोंऽशुभिः।।2/8।।

बात इतनी ही नहीं, इस भक्ति रस से केवल भक्त ही बँधता हो बल्कि भज्य अर्थात् योगी भी बँधता है, इसीलिए तो अन्यत्र आचार्य की उक्ति है-

भक्तिग्राह्या हि योगिनः।।2/83।।

कितनी सरल और सहज भाषा है, पर भक्तिरस से सराबोर।

प्रभु की सभा लगी हुई है, चूँकि प्रभु मोक्षमार्गगामी हैं इसलिए अलौकिक हैं और इसलिए उनकी सभा रूप समवसरण भी अलौकिक है। समवसरण में जो पशु बैठे हैं वे धन्य हैं, उनका शरीर मीठी घास के कारण अन्यन्त पुष्ट हो रहा है, ये दुष्ट पशुओं द्वारा होने वाली पीड़ा को भी जानते ही नहीं। पादप्रक्षालन करने से इधर-उधर फैले हुए कमण्डलु के जल से पवित्र हुए ये हिरणों के बच्चे इस तरह बढ़ रहे हैं मानों अमृत पीकर ही बढ़ रहे हों। इस ओर ये हथिनियाँ सिंह के बच्चों को अपना दूध पिला रही हैं और ये हाथी के बच्चे स्वेच्छा से सिंहिनी के स्तनों का स्पर्श कर रहे हैं-दूध पी रहे हैं। अहो! बड़े आश्चर्य की बात है कि जिन हिरणों को बोलना भी नहीं आता, वे भी मुनियों के समान भगवान् के चरणकमलों की छाया का आश्रय ले रहे हैं। जिनकी छालों को कोई छील नहीं सका है तथा जो पुष्प और फलों से शोभायमान हैं, ऐसे सब ओर लगे हुए ये वन के वृक्ष ऐसे मालूम होते हैं मानों धर्मरूपी बगीचे के ही वृक्ष हों। ये फूली हुई और भ्रमरों से घिरी हुई वनलताएँ कितनी सुन्दर हैं? ये सब न्यायवान् राजा की प्रजा की तरह कर-बाधा (हाथ से फल-फूल आदि तोड़ने का दुःख, पक्ष में टैक्स का दुःख) को तो जानती ही नहीं हैं। यथा-

पादप्रधावनोत्सृष्टैः कमण्डलुजलैरिमे।
अमृतैरिव बर्द्धन्ते मृगशावाः पवित्रिताः॥2/12॥
सिंहस्तनन्धयानत्र करिष्यः पाययन्त्यमूः।
सिंहधेनुस्तनं स्वैरं स्पृशन्ति कलभा इमे॥2/13॥
अहो परममाश्चर्यं यदवाचोऽप्यमी मृगाः।
भजन्ति भगवत्पादच्छायां मुनिगण इव॥2/14॥
अकृत्तवल्कलाश्चामी प्रसूनफलशालिनः।
धर्मारामतरूयन्ते परितो वनपादपाः॥2/15॥
इमा वनलता रम्याः प्रफुल्ला भ्रमरैर्वृताः।
न विदुः करसंबाधां राजन्वत्य इव प्रजाः॥2/16॥

श्लेष को व्यक्त करती महाकवि की भाषा कितनी सहज है।

आदिपुराण की सम्पूर्ण भाषा को देखें तो अनेकत्र लगता है कि यह केवल कविता भर नहीं है, यह शास्त्र है यथा-कालद्रव्य का वर्णन देखिए, कोई व्यंग्य नहीं, सीधे सिद्धान्त रख रहे हैं आचार्य -

अनादिनिधनः कालो वर्त्तनालक्षणो मतः।
लोकमात्रः सुसूक्ष्माणुपरिच्छिन्नप्रमाणकः।।3/2।।
सोऽसंख्येयोऽप्यनन्तस्य वस्तुराशेरुपग्रहे।
वर्त्तते स्वगतानन्तसामर्थ्यपरिबृंहितः।।3/3।।
यथा कुलालचक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधश्शिला।
तथा कालः पदार्थानां वर्त्तनोपग्रहं मतः।।3/4।।

आदिपुराण में विज्ञानवाद, शून्यवाद, भूतवाद आदि के खण्डन-मण्डन की भाषा यद्यपि छंदोबद्ध है पर बराबर लगता है कि शास्त्रार्थ की भाषा है क्योंकि इसमें शास्त्रार्थ के तर्कों की तरह तीक्ष्णता है और वह निरन्तर परमतों को पोषित करने वाली भाषा का या प्रकारान्तर से परमतों का खण्डन करती है, इसलिए इसे या यूँ कहें आदिपुराण की सम्पूर्ण भाषा को कविता की भाषा या कविता भर नहीं माना जाना चाहिए; बल्कि इसे कुछ और-और मानना चाहिए या फिर इसके ऐसे स्थलों को कहना चाहिए शास्त्रों का शास्त्र और ऐसे स्थलों की भाषा को भी शास्त्रों के शास्त्र की भाषा (Meta-language) मानना चाहिए क्योंकि इसमें शास्त्र-जैसा गाम्भीर्य है, पर वैसी दुरूहता नहीं। इसी प्रसंग में काल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य निरूपित करते हैं कि यह व्यवहार काल वर्तना लक्षण रूप निश्चय काल द्रव्य के द्वारा ही प्रवर्तित होता है और वह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान् रूप होकर संसार का व्यवहार चलाने के लिए कल्पित किया जाता है। यथा-

वर्त्तितो द्रव्यकालेन वर्त्तनालक्षणेन यः।
कालः पूर्वापरीभूतो व्यवहाराय कल्प्यते।।3/11।।
समयावलिकोच्छ्वास-नालिकादिप्रभेदतः।
ज्योतिश्चक्रभ्रमायत्तं कालचक्रं विदुर्बुधाः।।3/12।।
भवायुष्कायकर्मादिस्थितिसंकलनात्मकः।
सोऽनन्तसमयस्तस्य परिवर्त्तोऽप्यनन्तधा।।3/13।।

कितना गूढ़ विवेचन किया है बड़े सीधे शब्दों में आचार्य ने, लगता है मानों तत्त्वदर्शन की गाँठ ही खोल दी हो। उपर्यंकित प्रसंगों से हमें आदिपुराण की भाषा को काव्यभाषा के रूप में या शास्त्र भाषा के रूप में या फिर किसी अन्य रूप में पूरी तरह मानने से पहले यह आवश्यक लगता है कि हम उन बिन्दुओं को भी तलाशें जिनके आधार पर आदिपुराण की पुराणता है; स्वयं आचार्य कहते हैं कि यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है, इसलिए पुराण कहलाता है और चूँकि महापुरुषों का वर्णन है और है उनका उपदेश इसलिए उसके पठन-पाठन से है यह महापुराण।

पुरातनं पुराणं स्यात् तन्महन्महदाश्रयात्।
महद्भिरुपदिष्टत्वात् महाश्रेयोऽनुशासनात्॥1/21॥
कविं पुराणमाश्रित्य प्रसृतत्वात् पुराणता।
महत्त्वं स्वमहिम्नैव तस्येत्यन्यैर्निरुच्यते॥1/22॥
महापुरुषसंबन्धि महाभ्युदयशासनम्।
महापुराणमाम्नातमत एतन्महर्षिभिः॥1/23॥

बात इतनी ही नहीं, यह ग्रन्थ ऋषि प्रणीत होने के कारण आर्ष, सत्यार्थ का निरूपक होने के कारण सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने के कारण धर्मशास्त्र, 'यहाँ ऐसा हुआ' ऐसी अनेक कथाओं के इसमें उपनिबद्ध होने के कारण यह 'इतिहास', 'इतिवृत्त' व 'ऐतिह्य' भी कहलाता है। वस्तुतः इतिहास 'यहाँ ऐसा हुआ' का चिठ्ठा भर नहीं होता क्योंकि जो ऐसा होता है और चला जाता है, वह इतिहास का अंग नहीं बनता या बन पाता, इसका कारण यह कि वह सहसा हुआ होता है। इतिहास का अंग बनता है "ऐसा होता आया है" इसलिए इतिहास में "ऐसे हुए" की निरन्तरता होती है, इसीलिए पुराण की भाषा एक हुई कहानी को नहीं कहती, वह कहती है/उपनिबद्ध करती है कहानियों की श्रृंखला को, आदिपुराण की भाषा भी ऐसे ही जीव के आत्मिक गुणों के विकास को संजोने वाली कहानियों की लम्बी सरणि है, एक छूटती है तो दूसरी सम्मुख है, इसीलिए इसकी भाषा छोड़ती भी है छुड़ाती भी है और जोड़ती भी है। यह छोड़ती है वह सूत्र जिससे आप आत्मसम्मुख हो सकें, छुड़ाती है संसार के बंधन को और जोड़ती है प्रत्येक आत्मा को उसकी निष्कलंक अवस्था के मार्ग से।

इसीलिए आचार्य इसकी भाषा को, इसकी कथा को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि मोक्ष पुरुषार्थ के उपयोगी होने से धर्म-अर्थ तथा काम का कथन करना ही कथा का होना है। जिस भाषा में धर्म का विशेष निरूपण होता है, उसे बुद्धिमान् सत्कथा कहते हैं। धर्म के फलस्वरूप जिन अभ्युदयों की प्राप्ति होती है उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं, अत: धर्म का फल दिखाने के लिए अर्थ और काम का वर्णन करने वाली भाषा भी कथा की कोटि में आती है, पर वही अर्थ और काम को व्यक्त करने वाला भाषिक वर्णन यदि धर्मकथा से विमुख होता है तो विकथा की कोटि में आ जाता है। इसीलिए उनकी और मान्यता है कि जीवों को स्वर्गादि अभ्युदय तथा मोक्षादि की जिससे प्राप्ति होती है, वास्तव में वही धर्म है और उससे सम्बन्ध रखने वाली जो कथा है वही सद्धर्मकथा है और वही सम्यक् भाषा। यथा -

पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा।
तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः॥1/118॥
तत्फलाभ्युदयाङ्गत्वादर्थकामकथा कथा।
अन्यथा विकथैवासावपुण्यास्त्रवकारणम्॥1/119॥
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरंजसा।
सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता॥1/120॥

वे आगे और कहते हैं कि वक्ता को भाषा का प्रयोग करते समय वे ही वचन बोलने चाहिए जो हितकारी हों, प्रिय हों, धर्मोन्मुख हो और हों यशस्कर भी। प्रसंग आने पर भी अधर्मसम्मत और अपयशकारक वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। भाषिक प्रयोग में कितने सजग हैं आचार्य। यथा -

हितं ब्रूयान्मितं ब्रूयाद् ब्रूयाद् धर्म्यं यशस्करम्।
प्रसङ्गादपि न ब्रूयादधर्म्यमयशस्करम्॥1/133॥

धर्म के महत्त्व को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि धर्म से इच्छानुसार सम्पत्ति मिलती है और उससे ही इच्छानुसार सुख की प्राप्ति होती है और उससे मनुष्य प्रसन्न रहते हैं, इसलिए यह परम्परा केवल धर्म से ही संचालित है। राजसम्पदायें भोग-उपभोग, उत्तम कुल में जन्म, सुन्दरता

पाण्डित्य, दीर्घ आयु और आरोग्य यह सब धर्म का ही फल है। जिस प्रकार कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, दीपक के बिना प्रकाश नहीं, बीज के बिना अंकुर नहीं, मेघ के बिना बादल नहीं, छत्र के बिना छाया नहीं, ठीक वैसे ही बिना धर्म के सम्पत्तियाँ भी नहीं होतीं। यथा-

धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदयः।
स च संप्रीतये पुंसां धर्मात् सैषा परम्परा॥5/15॥
राज्यं च संपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता।
पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत् फलं विदुः॥5/16॥
न कारणाद् विना कार्यनिष्पत्तिरिह जातुचित्।
प्रदीपेन बिना दीप्तिर्दृष्टपूर्वा किमु क्वचित्॥5/17॥
नाङ्कुरः स्याद् बिना बीजाद् बिना वृष्टिर्न वारिदात्।
छत्राद् बिनापि नच्छाया बिना धर्मान्न संपदः॥5/16॥

और भी -

दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम्।
दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः॥5/21॥
धर्मस्य तस्य लिङ्गानि दमः क्षान्तिरहिंस्त्रता।
तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च॥5/22॥
अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्यं त्यक्तकामता॥
निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः॥5/23॥

वस्तुतः चैतन्य शरीर स्वरूप नहीं है और न शरीर चैतन्य रूप ही है। इन दोनों का परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। चैतन्य चित् स्वरूप और ज्ञान दर्शन रूप है। शरीर अचित् स्वरूप और जड़ है। शरीर और चैतन्य दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों में परस्पर विरोधी गुणों का योग है। चैतन्य का प्रतिभास तलवार के समान अंतरंग रूप होता है और शरीर का म्यान के समान बहिरंग रूप। प्रतिभाष भेद से दोनों भिन्न-भिन्न हैं एक नहीं ।

कायात्मकं न चैतन्यं न कायश्चेतनात्मकः।
मिथो विरुद्धधर्मत्वात् तयोश्चिदचिदात्मनोः॥5/51॥

कायचैतन्ययोर्नैक्यं विरोधिगुणयोगतः।
तयोरन्तर्बहीरूपनिर्भासाच्चासिकोशवत्॥5/52॥

शरीर और आत्मा का संबन्ध ऐसा है, जैसे घर और दीपक का; आधर और आधेय रूप होने से घर और दीपक पृथक्-पृथक् है, उसी प्रकार आत्मा और शरीर भी। यथा -

गृहीप्रदीपयोर्यद्वत् सम्बन्धो युतसिद्धयोः।
आधाराधेयरूपत्वात् तद्वद्देहोपयोगयोः॥5/55॥

ऐसा नहीं कि आदिपुराण की भाषा ने केवल धर्म, दर्शन और वैराग्य को अपने में समेटा है बल्कि श्रृंगार का उत्कृष्ट वर्णन भी हमें इसमें देखने को मिलता है। यथा -

लतेवासौ मृदू बाहू दधौ विटपसच्छवी।
नखांशुमंजरी चास्या धत्ते स्म कुसुमश्रियम्॥6/70॥
आनीलचूचुकौ तस्याः कुचकुम्भौ विरेजतुः।
पूर्णौ कामरसस्येव नीलरत्नाभिमुद्रितौ॥6/71॥
स्तनांशुकं शुकच्छायं तस्याः स्तनतटाश्रितम्।
बभासे रुद्धपङ्केजकुट्मलं शैवलं यथा॥6/72॥
हारस्तस्याः स्तनोपान्ते नीहाररुचिनिर्मलः।
श्रियमाधत्त फेनस्थ कञ्जकुट्मलसंस्पृशः॥6/73॥
ग्रीवास्या राजिभिर्भेजे कम्बुबन्धुरविभ्रमम्।
स्रस्तावंसौ च हंसीव पक्षती सा दधे शुची॥6/74॥
मुखमस्या दधे चन्द्रपद्मयोः श्रियमक्रमात्।
नेत्रानन्दि स्मितज्योत्स्नं स्फुरद्दन्ताशुकेशरम्॥6/75॥
स्वकलावृद्धिहानिभ्यां चिरं चान्द्रायणं तपः।
कृत्वा नूनं शशी प्रापत् तद्वक्त्रस्योपमानताम्॥6/76॥
कर्णौ सहोत्पलौ तस्या नेत्राभ्यां लङ्घतौ भृशम्।
स्वायत्यारोधिनं को वा सहेतोपान्तवर्त्तिनम्॥6/77॥

सूक्तों की भाषा में जिनसेनाचार्य ने बड़े दुरूह से दुरूह विषयों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों के रूप में अनन्तभाव को बड़े सहज ही व्यक्त कर दिया है, लगता है मानों गागर में सागर भर दिया हो। यथा-

विशुद्धपरिणामेन भक्तिः किं न फलिष्यति॥6/110॥

और

दहत्यधिकमन्यस्मिन् माननीयविमानता॥6/138॥

संस्काराः प्राक्तनां नूनं प्रेरयन्त्यङ्गिनो हिते॥9/97॥

प्रायः श्रेयोऽर्थिनो बुधाः॥11/5॥

विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता।
सभ्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी॥16/99॥

न तत्सुखं परद्रव्यसंबन्धाादुपजायते।
नित्यमव्ययमक्षय्यमात्मोत्थं हि परं शिवम्॥21/209॥

इस प्रकार आदिपुराण की सम्पूर्ण भाषा के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि जहाँ भाषा का उद्देश्य केवल कुल परम्परा आदि के तथ्यों को कहना है, उसकी सरणि को बताना है, वहाँ आदिपुराण इतिहास है; जहाँ शाश्वत सत्यों को उद्घाटना करनी है वहाँ सूक्तभाषा है और जहाँ धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों को रखना है वहाँ कविता कामिनी की तरह व्यंग्य प्रधान भाषा न रखकर साक्षात् विषयोन्मुखी अभिधाधर्मी धार्मशास्त्रीय भापा गढ़ी है रचनाकार ने। जिसे दूसरे रूप में कहा जा सकता है कि आदिपुराण की भाषा विषयानुगामिनी या यूँ कहें कि परिस्थित्यानुगामिनी है। उसे जहाँ आवश्यकता है वहाँ वह श्लिष्टपदावली से संयुक्त है, जहाँ विरल शब्दों की अपेक्षा है वहाँ वह स्फुट पदरूप है, जहाँ आलंकारिकता की अपेक्षा है वहाँ अलंकारमयी और रसमयी भी। कुल मिलाकर प्रयोजनवती भाषा है आदिपुराण की, इसलिए उसे सामान्य भाषा के मापकों के आधार पर नहीं तौला जाना चाहिए। सामान्य भाषागत विशेषताओं के सन्दर्भ में आदिपुराण पर दृष्टि डालें तो सन्नन्त प्रक्रिया, नामधातु प्रक्रिया का प्रचुर प्रयोग इनकी भाषा में मिलता है, पर है वह सार्थ ही। यथा-धर्मारामतरूयन्ते (2/15); सार्थवाहायते (2/19) आदि अनेक प्रयोग।

निदेशक-हिन्दी व्याकरण इकाई
महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
बी-1/132, सेक्टर-जी, अलीगंज, लखनऊ

सर्वघाति और देशघाति कर्म प्रकृतियाँ-एक चिन्तन

- **डॉ. श्रेयांस कुमार जैन**

जैनागम में कर्म सिद्धान्त का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसागर कर्मकाण्ड नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ के माध्यम से कर्म का स्वरूप, कर्म की मूल एवं उत्तर प्रकृतियां, कर्म की विविध अवस्थाएं, कर्म फल, जीव और कर्म के सम्बन्ध आदि विषयों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसी के आधार पर कर्म के वैशिष्ट्य के साथ जीव के स्वभाव को प्रगट न होने देने वाली कर्म की शक्ति पर विचार किया है। इसी के आधार पर कर्म के वैशिष्ट्य के साथ जीव के स्वभाव को प्रगट न होने देने वाली कर्म की शक्ति पर विचार किया जा रहा है।

जीव के साथ बन्धने वाले विशेष जाति के पुद्‌गल स्कन्ध कर्म है। ये सूक्ष्म जड़रूप होते हैं। जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं। यह अनादि परम्परा है। अर्थात् जीव और कर्म का खान से निकले स्वर्ण पाषाण की भाँति अनादि सम्बन्ध है अथवा जैसे बीज और अंकुर की सन्तान परम्परा अनादि है उसी प्रकार जीव और कर्म की परम्परा अनादि है[1], किन्तु अनादि के साथ साथ सान्त और अनन्त भी है, जिस प्रकार बीज को अग्नि में जला दिया जाय तो उस बीज से अंकुरोत्पति असंभव है उसी प्रकार भव्य जीव साधना के माध्यम से कर्मो को आत्मा से पृथक् कर देता है तो वह पुनः कर्मबद्धता को प्राप्त नहीं होता। अभव्य जीव की अपेक्षा कर्म का सम्बन्ध अनादि अनन्त है, क्योंकि वह कर्म को अपने से कभी भी पृथक् नहीं कर सकता है[2]।

संसार अवस्था में तो प्रतिक्षण सभी जीव कर्मों तथा नो कर्मों को ग्रहण करते हैं जैसा कि कहा है -''जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय से योग सहित होकर प्रतिसमय कर्म-नोकर्म वर्गणा को सर्वांग से

ग्रहण करता है यथा तपाया हुआ लोहे का गोला सर्वांग से जल को ग्रहण करता है।

कर्मत्व की अपेक्षा समस्त कर्मों को एक कहा जा सकता है, किन्तु द्रव्यकर्म और भावकर्म की अपेक्षा से उसके दो भेद हो जाते हैं, जो जिस पुद्गल पिण्ड को ग्रहण करता है, वह द्रव्यकर्म है और उसकी फलदायिनी शक्ति का नाम भावकर्म है[3]। जीव के भावों का निमित्त पाकर 'कर्म' नामक सूक्ष्म जड़ द्रव्य जीव के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही होकर स्थित हो जाता है। नाना प्रकार के फल को देता है, उसी का निरूपण किया जा रहा है। आगम में अनुभागबन्ध को 24 अनुयोग द्वारों का आलम्बन लेकर ओघ और आदेश प्रक्रिया अनुसार विस्तार से निबद्ध किया गया है[4]। प्रथमत: संज्ञा अनुयोग द्वार में संज्ञा के दो भेद बतलाये गये हैं-(1) घातिसंज्ञा (2) स्थानसंज्ञा।

जो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, वीर्य दान, लाभ, भोग और उपभोग आदि अनुजीवी गुणों का घात करते हैं, उन्हें घातिकर्म कहते हैं। ये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार कर्म हैं तथा जो कर्म उक्त ज्ञान दर्शन आदि गुणों का घात करने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें अघातिकर्म कहते हैं। इनके नाम वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र हैं[5]।

घातिया और अघातिया कर्मों पर विशेष विचार करने से पूर्व मूल कर्मप्रकृतियों के क्रम और उनकी संगति पर विचार कर लेना भी उचित है।

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।
आउगणामं गोदंत्तरायमिदि अट्ठ पयडीओ।। गो.कर्म.गा. 8

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्म की मूल प्रकृतियां हैं।

मूल कर्म प्रकृतियां घातिकर्म और अघातिकर्म के रूप में विभक्त हैं किन्तु वेदनीय नामक अघातिकर्म को घातिकर्म के साथ रखना और अन्तराय नामक घातिकर्म को अघातिकर्म के साथ रखना साभिप्राय है। इसी पर विचार किया जा रहा है : वेदनीय कर्म की गणना मोहनीय कर्म से पूर्व घातियाकर्मों के साथ की गई किन्तु जीवविपाकी नाम और वेदनीय कर्मों को घातिया नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उनका कार्य अनात्मभूत

सुभग दुर्भग आदि जीव पर्यायों को उत्पन्न करना है, इनमें जीव के गुणों का विनाश करने की शक्ति नहीं होती है[6]। वेदनीय कर्म रति और अरति मोहनीय कर्म के साथ ही जीव के गुणों को घातता है। इस कारण वेदनीय को मोहनीय से पहिले घातियाकर्मो के साथ रखा गया है। हां, वह स्वयं तो अघातिया ही है, किन्तु मोहनीय कर्म के संयोग से घातियावत् कार्य करता है[7]।

अन्तराय कर्म के सम्बन्ध में भी चिन्तन की आवश्यकता है-कि यह घातियाकर्म अनुभाग के अन्तर्गत है, फिर इसे अघातियाकर्मो के अन्त में क्यों रखा गया है? इसके सम्बन्ध में आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने यह समाधान दिया है कि नाम गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्म के निमित्त से ही इसका व्यापार है। यही कारण है कि अघातिया कर्मो के अन्त में अन्तरायकर्म को कहा गया है। अन्तरायकर्म का नाश हो जाने पर अघातियाकर्म भुने हुए बीज के समान निःशक्त हो जाते हैं[8]।

इस प्रकार मूल कर्म प्रकृतियों की गणना एवं कंचन के औचित्य को समझकर एवं घातिकर्म तथा अघातिकर्म की व्यवस्था जानकर बन्ध की अपेक्षा से कर्म के भेदों पर विचार किया जा रहा है। बन्धापेक्षा से कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार का है। इनमें से प्रकृति और प्रदेश योग-मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग क्रोधादि कषायों के द्वारा होते हैं[9]।

बन्ध प्रक्रिया में अनुभाग का विशेष स्थान है। विविध कर्मो की फलदान शक्ति अनुभव या अनुभाग है। तत्त्वार्थसूत्रकार "विपाकोऽनुभवः" अनुभागकर्म के फल को कहते हैं। अनुभाग बन्ध कषायों की तीव्रता, मन्दता और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के अनुसार अनेक प्रकार का होता है। जीव के भावों के अनुसार ही फलदान शक्ति में तरतमता होती है। जैसे उबलते हुए तेल की एक बूंद शरीर को जला डालती है परन्तु कम गर्म मन भर तेल भी शरीर को नहीं जलाता है, उसी प्रकार अधिक अनुभाग युक्त थोड़े से कर्म जीव के गुणों का घात करने में समर्थ होते हैं, परन्तु अल्प अनुभाग युक्त अधिक कर्म भी जीव के गुणों का घात करने में समर्थ नहीं होते हैं।

कर्मबन्ध में अनुभाग की प्रधानता होती है। कर्म प्रदेशों के अधिक होने पर यह आवश्यक नहीं कि कर्म के अनुभाग में भी वृद्धि हो क्योंकि अनुभाग बन्ध कषाय से होता है[10]।

मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों का अनुभाग की अपेक्षा ही वस्तुतः घाति[11] और अघातिरूप से विभाजन है।

घातिकर्म-सर्वघाति और देशघाति दो भेद रूप हैं[12]।

पूर्ण रूप से गुणों को घात करने वाला अनुभाग या कर्म प्रकृतियां सर्वघाति हैं। सर्वघातिकर्म प्रकृतियां आत्मशक्ति के एक अंश को भी प्रकट नहीं होने देती हैं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती इनकी संख्या बतलाते हुए लिखते हैं -

केवल णाणावरणं दंसणछक्कं कसायवारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि।। गो.क.गा. 32

केवलज्ञानावरण, दर्शनावरण की छह, कषाय बारह, एवं मिथ्यात्व ये 20 प्रकृति बन्ध की अपेक्षा सर्वघाति है। यहाँ इतना विशेष है कि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति किंचिञ्त् सर्वघाति तो है किन्तु बन्ध योग्य नहीं है, उदय और सत्व में जात्यन्तर रूप से सर्वघाति है। अतः उदय और सत्व की अपेक्षा इक्कीस प्रकृतियां सर्वघाति हैं।

एक देश रूप से गुणों का घात करने वाले हीन शक्ति युक्त अनुभाग (कर्मप्रकृतियों) को देशघाति कहा जाता है। देशघाति कर्मप्रकृतियां आत्मा के आंशिक रूप को प्रगट होने देती हैं अर्थात् आत्मा की आंशिक प्रगटता में बाधक नहीं होती हैं। ये प्रकृतियां संख्या में छब्बीस बतायी गयी हैं अर्थात् मति-श्रुत-अवधि, मन पर्ययज्ञानावरण की चार, दर्शनावरण की चक्षु, अचक्षु, अवधि तीन, सम्यक्त्व प्रकृति दर्शनमोह सम्बन्धी एक सञ्ज्वलन कषाय रूप क्रोध, मान, माय, लोभ, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये चारित्रमोहनीय की तेरह और अन्तराय की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये पांच। इस प्रकार ये सभी 26 प्रकृतियां देशघाती हैं[13]।

उक्त सर्वघाति और देशघाति सभी प्रकृतियां अप्रशस्त रूप ही होती हैं। अर्थात् से सभी पाप प्रकृतियां हैं। इनके स्थान चार प्रकार के बतलाये गये हैं-एक स्थानीय, द्वि स्थानीय, त्रि स्थानीय और चतुः स्थानीय[14]। जिसमें लता के समान लचीला अति अल्प फलदान शक्ति युक्त अनुभाग पाया जाता है, वह एक स्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिसमें दारु (काण्ठ) के समान कुछ सघन और कठिन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग

पाया जाता है, वह द्विस्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिसमें हड्डी के समान सघन होकर अतिकठिन फलदान शक्ति युक्त अनुभाग पाया जाता है, वह त्रिस्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिसमें पाषाण के समान कठिनतम सघन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है, वह चतुःस्थानीय अनुभाग कहलाता है[15]। आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कर्म प्रकृतियों की तरतमावस्था को लता, दारु अस्थि और शैल के उदाहरण द्वारा ही स्पष्ट किया है[16]। अर्थात् ज्ञान को आच्छादित करने वाली प्रकृति मोहनीय और विघ्न की कारणभूतअन्तराय प्रकृति की शक्ति लता, दारु अस्थि और शैल के समान है, जिस प्रकार लता आदि में क्रमशः अधिक-अधिक कठोरता पाई जाती है, उसी प्रकार इन कर्म स्पर्द्धक-कर्मवर्गणा समूहों में अपने फल देने की शक्ति रूप अनुभाग क्रमशः अधिक अधि क पाया जाता है। इन लता, दारु, अस्थि और शैल में से लता भाग के सम्पूर्ण और दारु के बहुभाग स्पर्द्धक देशघाति हैं, क्योंकि ये स्पर्द्धक आत्मा के सम्पूर्ण गुणों का घात नहीं करते हैं। दारु के शेष स्पर्द्धक और अस्थि व शैल के सम्पूर्ण स्पर्द्धक सर्वघाति कहलाते हैं क्योंकि ये आत्मा के किसी भी गुण या गुणांश को उत्पन्न नहीं होने देते हैं। एक ही कर्म प्रकृति में देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकार के शक्त्यंश भी पाये जाते हैं जैसे जहाँ अवधिज्ञान का अंश भी प्रकट न हो, वहाँ अवविज्ञान के सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदय जानना चाहिए जहाँ अवधिज्ञान और अवधि ज्ञानावरण भी पाया जाता है, वहाँ अवधिज्ञानावरण के देशघाति शक्त्यंशों का उदय जानना। दोनों प्रकार के स्पर्धक केवल देशघाति कर्म प्रकृतियों में ही होते हैं। जो प्रकृतियां सर्वघातिनी हैं, उनके सभी स्पर्द्धक देशघाति होते हैं अर्थात् जो स्पर्द्धक त्रिस्थानिक और चतुः स्थानिक रसवाले होते हैं, वे देशघाति भी होते हैं और सर्वघाति भी होते हैं किन्तु एक स्थानिक रसवाले स्पर्द्धक देशघाति ही होते हैं।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मूल कर्म प्रकृतियों में से मिथ्यात्व प्रकृति का वैशिष्ट्य बताते हुए कहा है-लता भाग से लेकर दारु के अनन्तवें भाग बिना शेष बहुभाग के अनन्त खण्ड करें, उनमें से एक खण्ड प्रमाण स्पर्द्धक भिनन ही जाति की सर्वघाति मिश्र प्रकृतिरूप हैं तथा शेष दारु के बहुभाग और अस्थि तथा शैलरूप स्पर्द्धक सर्वघाति मिथ्यात्वप्रकृति रूप जानना[17] आर्यिका 105 श्री आदिमती जी ने एक उदाहरण के माध्यम से इस विषय को स्पष्ट किया है : "माना कि दर्शनमोहनीयकर्म की

अनुभाग शक्ति के स्पर्धक 120 है और अनन्त की संख्या 4 मान लो, लता भाग की शक्ति के स्पर्द्धक 8, दारुभाग के स्पर्धक 16, अस्थिभाग के स्पर्धक 32 तथा शैल भाग के स्पर्धक 64 हैं अर्थात् 8+16+32+64=120 में दर्शनमोहनीयकर्म की अनुभाग शक्ति के स्पर्धक हैं। इनमें से लताभाग के 8 दारु भाग का अनन्तवां भाग 16÷4=4 इस प्रकार 8+4=12 भाग सम्यक्त्व प्रकृति को मिलेंगे। मिश्र प्रकृति को दारुभाग के 16-4=12 भाग जो शेष उसका अनन्तवां भाग अर्थात् 12÷4=3 भाग मिथ्यात्वप्रकृति को दारु भाग में से 9 भाग बचे तथा अस्थिभाग की अनुभाग शक्ति के स्पध 'क 32 व शैल भाग के स्पर्धक 64 मिलाकर (9+32+64=105) स्पर्धक मिलेंगे।

यह जानाना आवश्यक है कि कौन-कौन सी देशघाति और सर्वघाति कर्म प्रकृतियां शक्ति की अपेक्षा किस किस रूप से परिणत होती हैं? मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय ज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु अवधि दर्शनावरण अन्तराय, 4 संज्वलन और एक पुरुषवेद ये 16 प्रकृतियां शैल, अस्थि, दारु और लता इन चार भावरूप से परिणत होती हैं। शैल भाग के अभाव में शेष तीन रूप से परिणत होती हैं। शैल, अस्थि एवं दारु के अभाव में शेष दो रूप से परिणत होती हैं। शैल अस्थि एवं दारु के अभाव में मात्र लता रूप से ही परिणत होती हैं। उक्त 16 व सम्यक्त्व और मिश्र को छोड़कर शेष घातिया कर्म की प्रकृतियां तीन भाव रूप होती हैं[18]। केवलज्ञानावरण केवलदर्शनावरण 5 निद्रा और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान क्रोध, मान माया, लोभ रूप 12 कषाय के सर्वघाति स्पर्द्धक ही हैं देशघाति नहीं। अत: इनके स्पर्द्धक शैल, अस्थि और दारु के अनन्त बहुभाग रूप हैं। शैल के अभाव ये शेष दो रूप और शैल अस्थि के अभाव में मात्र दारु के अनन्त बहुभाग रूप से हैं। पुरुष वेद बिना 8 नोकषाय केवल लता रूप परिणत न होकर चार रूप और तीन रूप विकल्प से परिणत होती है।

परिणमन अवस्था को जानने के अनन्तर दोनों प्रकृतियों की सहभावी अवस्था बताया जा रहा है। देशघाति और सर्वघाति जब एक साथ काम करेगी तब क्षयोपशम अवस्था आती है किन्तु क्षयोपशम में देशघाति का उदय और सर्वघाति का अनुदय होना चाहिए। यदि अन्य कर्म भी उस गुण के क्षयोपशम में बाधक हों तो उस कर्म के भी उस गुण को घात करने

वाले सर्वघाति स्पर्द्धकों का अनुदय होना चाहिए और मतिज्ञानावरण के देशघाति स्पर्द्धकों का उदय होना चाहिए।

सर्वघातिकर्म प्रकृतियों के विषय में यह ज्ञातव्य है कि ये स्वमुख से क्षय को प्राप्त नहीं होती हैं। सर्वघाति द्रव्य देशघाति रूप बदलकर ही क्षय को प्राप्त होता है। एक उदाहरण के माध्यम से इस प्रकार से जाना जा सकता है कि नगर निगम की विशाल टंकी जल से भरी हुई है, किन्तु उससे सीधा पानी नहीं लिए जाने के कारण वह खाली नहीं होती है, उस टंकी से पानी पाइप के द्वारा उपभोक्ता के मकान तक पहुंचता है। मकान में लगे हुए जल मीटर से निकलकर रसोई या स्नानगृह में लगी हुई टोंटी से पानी उपभोक्ता व्यय करता है। पानी घर में लगी टोंटी से व्यय होता है और खाली नगर निगम की मुख्य टंकी होती है। इसी प्रकार सर्वघातिकर्म प्रकृतियों का द्रव्य देशघाति रूप परिवर्तित होकर देशघाति रूप से क्षय होता है और सर्वघाति प्रकृति शक्तिहीन होती जाती है। अनन्तर पूर्ण रूप से क्षय को प्राप्त हो जाती हैं।

धवल आदि आगम ग्रन्थों में सर्वघाति और देशघति प्रकृतियों के विषय में शंका समाधान के माध्यम से बहुत अधिक ऊहा-पोह किया गया है। यहाँ एक ही प्रसंग लिया जा रहा है। शंका-केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाति या देशघाति हैं। सर्वघाति नहीं हो सकता है। क्योंकि केवलज्ञान का अभाव मान लेने पर जीव के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। देशघाति भी नहीं हो सकती है क्योंकि आगम सर्वघाति कहा जाने के कारण सूत्र का विरोध हो जाएगा। समाधान यह है-केवल ज्ञानावरण सर्वघाति प्रकृति ही है क्योंकि वह केवलज्ञान का निःशेष आवरण करती है, फिर भी जीव का अभाव नहीं होता क्योंकि केवलज्ञान के अनावृत होने पर भी चार ज्ञानों का अस्तित्व उपलब्ध होता है।

मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघातिपने को सकारण सिद्ध किया गया है और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के भी सर्वघातिपने की सिद्धि की गई। सम्यक्त्व प्रकृति के देशघातिपने को बतलाया है। कसायपाहुड़, षट्खण्डागम आदि आगम ग्रन्थों से विस्तारपूर्वक जानना श्रेयस्कर होगा।

उपर्युक्त प्रतिपादन सर्वघाति और देशघाति कर्म प्रकृतियों के स्वरूप और कार्य पर संक्षिप्त ही प्रकाश डालना है विशेष बोध हेतु करुणानुयोग का विपुल साहित्य उपलब्ध है।

सन्दर्भ

1. पयडी सील सहावो जीवं गाणं अणाइ संबधो।
कणयो बलं मलं वा ताणथित्तं सयं सिद्ध।। गो-कर्म-2

2. देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्ताय सपिंड ओव्व जलं।। गो-कर्म-3

3. कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि कुविहंतु।
पोग्गल पिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं दु।। गो-कर्म-6

4. महाबन्ध

5. आवरण मोहविग्घं घादी जीव गुणघादणत्तादो।
आउगणामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति।। गो-कर्म-गा-8

6. ''जीवगुण विणासयत्तत विरहादो ''धवल पु. 6/2 पृष्ठ 63

7. ''घादिव वेयणीयं मोहस्स वलेण घाददे जीवं'' गो.क.गां. 19

8. शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो।
भ्रष्टबीजवन्निशक्ति कृताघातिकर्मणी।। धावल पु. 1 पृ. 44

9. पयडि-ट्ठिदि अणुभाग प्पदेस भेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगापयडि-पदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति।।231।। जिनवाणी

10. धवल पु. 12/4 पृ. 115

11. तत्र ज्ञान दर्शनावरण मोहान्तरायाख्या घातिका। राज.वा.पृ. 584

12. घातिकाश्चापि द्विविधा सर्वघातिका देशघातिकाश्च।। रा.वा.पृ. 584

13. णाणावरण चउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं।
णव णो कसाय विग्घं छव्वीसा देसघादीओ।। गो.क.गा. 40

14. महाबन्ध भाग 2

15. घाति कर्मणामनुभागो लता दार्वस्थि शैलसमानचतुः स्थानम्।। कर्म प्रकृति 545.

16. सत्ती य लदा दारु अट्ठी से लोवमाहु घादीणं।
दारु अणंतिमभागोत्ति देसघादी तदो सव्वं।। गो.कर्म.गा. 180

17. देसोत्ति हवे सम्मं तत्तो दारु अणंतिमे मिस्सं।
सेसा अणंतभागा अत्थिसिला फड्ढया मिच्छे।। गो.कर्म 181

18. गोम्मटसार कर्मकाण्ड 182

निदेशक-दिगम्बर जैन मुनि विद्यानंद शोधपीठ, बड़ौत

आचार्य अजितसेन की दृष्टि में उपमा

- डॉ. संगीता जैन

उपमा का शाब्दिक अर्थ है-सादृश्य, समानता एवं तुल्यता आदि। 'उप सामीप्यात् मानम् इत्युपमा' अर्थात् उप और मा इन दो शब्दों के योग से बना है या माप (तौलना)। इसमें दो पदार्थो को समीप रखकर तुलना की जाती है, एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सादृश्य स्थापित किया जाता है। उपमा सादृश्यमूलक अलंकार है। इसमें सादृश्य के कारण जो सौन्दर्यानुभूति होती है, उसी की प्रधानता है।

उपमालंकार सभी अर्थालंकारों में प्रमुख है। इसे अलंकारों का मूलभूत स्वीकार किया गया है।[1] संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में उपमा के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध होते हैं तथा उपनिषद्, रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों में भी इसके उदाहरण विद्यमान हैं। इस प्रकार उपमा की प्राचीनता असंदिग्ध है। उपमा का सर्वप्रथम शास्त्रीय विवेचन यास्क कृत निरुक्त में है।[2] इस प्रकार निरुक्त के प्रमाण से यह स्पष्ट है कि यास्क से पूर्व उपमा का विवेचन गार्ग्य आदि आचार्यो द्वारा हो चुका था और वेद-मन्त्रों के अर्थ में उपमा की व्याख्या की जाती थी।

आलंकारिकों ने उपमा को अत्यन्त गौरवशाली पद प्रदान किया है। सभी अर्थालंकारों में उपमा को ही प्रथम स्थान प्राप्त होता है।[3] राजशेखर ने उपमा को अलंकारों का शिरोरत्न कहकर इसकी महिमा का बखान किया है। भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित चार अलंकारों में उपमा भी है। प्रसिद्ध आलंकारिक एवं अलंकारसर्वस्व के रचयिता राजानक रुय्यक ने उपमा को अलंकारों का 'बीजभूत' कहकर इसकी प्रशस्ति का गान किया है। रुय्यक के अनुसार इसका प्रधान कारण उपमा का अनेक प्रकार से वैचित्र्यपूर्ण होना ही है।

आचार्य अजितसेन ने सर्वप्रथम अनेक अलंकारों का कारण होने से उपमा का लक्षण कहा है। उन्होंने उपमा की परिभाषा देते हुए कहा है-

वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतः सिद्धेन धर्मतः।
भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्यं यत्रोपमैकदा॥[4]

स्वतो भिन्नेन स्वतः सिद्धेन विद्वत्संमतेन अप्रकृतेन सह प्रकृतस्य यत्र धर्मतः सादृश्यं सोपमा। स्वतः सिद्धेनेत्यनेनोत्प्रेक्षानिरासः॥ अप्रसिद्धस्याप्युत्प्रेक्षा-यामनुमानत्वघटनात्॥ स्वतो भिन्नेनेत्यनेनानन्वयनिरासः। वस्तुन एकस्यैवानन्वये उपमानोपमेयत्वघटनात्। सूर्यभीष्टेनेत्यनेनहीनोपमादिनिरासः।[5]

अर्थात् स्वतः पृथक् तथा स्वतः सिद्ध आचार्यो के द्वारा अभिमत अप्रकृत का एक समय धर्मतः सादृश्य वर्णन करना, उपमालंकार है। इस लक्षण में 'स्वतः सिद्धेन' यह विशेषण नहीं दिया जाता तो उत्प्रेक्षा में भी उपमा का लक्षण घटित हो जाता, क्योंकि स्वतः अप्रसिद्ध का भी उत्प्रेक्षा में अनुमान उपमानत्व होता है। इसी प्रकार 'स्वतः स्वतोभिन्नेन' यदि लक्षण में समाविष्ट न किया जाता तो अनन्वय में भी उपमा का लक्षण प्रविष्ट हो जाता, क्योंकि एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय रूप से अनन्वय में कहा जात है। यदि उपमा के उक्त लक्षण में 'सूर्यभीष्टेन' पद का समावेश नहीं किया जाता तो हीनोपमा में भी उपमा का उक्त लक्षण प्रविष्ट हो जाता। अतः उपमा के लक्षण में 'सूर्यभीष्टेन' आचार्याभिमत दिया गया है।

अजितसेन ने उपमा का यह लक्षण पदसार्थक पूर्वक दिया है। उन्होंने प्रत्येक पद की सार्थकता दिखलाकर अन्य अलंकारों के साथ उसके पृथकत्व की सिद्धी की है। उनके लक्षण का प्रत्येक पद अन्य अलंकारों से पृथकत्व घटित करता है। उक्त लक्षण में 'धर्मतः' पद श्लेषालंकार का व्यवच्छेदक है, क्योंकि श्लेष में केवल शब्दों की समता मानी जाती है, गुण और क्रिया की नहीं। स्पष्ट है कि अजितसेन का उक्त लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव तीनों दोषों से रहित है।

उपमा की परिभाषा सभी आचार्यो ने दी है किन्तु उनके लक्षण में कुछ अन्तर दिखायी पड़ता है। उपमा के लक्षण में सभी आलंकारिकों ने सादृश्य, साम्य एवं साधर्म्य में से किसी एक शब्द का प्रयोग किया है। भरत, दण्डी, जयदेव, जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पंडित ने सादृश्य का सन्निवेश किया है तो वामन, भामह, विद्यानाथ, विश्वनाथ एवं वाग्भट ने

साम्य का तथा उद्भट, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र ओर अजितसेन ने साधर्म्य शब्द का प्रयोग कर उपमा के स्वरूप का निरूपण किया। कुछ आचार्यों ने सादृश्यादि के अतिरिक्त उपमा की परिभाषा में गुणलेश या उसके पर्यायवाची शब्द का भी व्यवहार किया है तथा कुछ आचार्य उपमानोपमेय एवं अन्य अलंकारों से विभेद स्थापित रिने वाले शब्दों का भी समावेश करते हैं। उद्भट एवं रुय्यक उपमानोपमेय का प्रयोग करते हैं तो मम्मट, विद्यानाथ, अजितसेन, विश्वनाथ एवं विश्वेश्वर ने अन्य अलंकारों से भेद उपस्थित करने वाले शब्दों का सन्निवेश किया है।

आचार्य अजितसेन ने सर्वप्रथम उपमा के पूर्णा एवं लुप्ता दो भेद किये। इन दोनों भेदों के पुनः श्रौती एवं आर्थी के भेद से दो-दो भेद किये। पुनः वाक्यगा, समासगा तथा तद्धितगा के भेद से पूर्णोपमा के श्रौती एवं आर्थी दोनों भेदों के तीन-तीन भेद किये। इस प्रकार पूर्णोपमा के कुल छः भेद किये। इसी प्रकार लुप्तोपमा के कुल छः भेद किये। इसी प्रकार लुप्तोपमा के श्रौती एवं आर्थी दोनों भेदों के वाक्यगा अनुक्तधर्मा, समासगा अनुक्तधर्मा-इन दो भेदों से लुप्तोपमा श्रौती के दो भेद एवं इन दो भेदों के अतिरिक्त तद्धितगा अनुक्तधर्मा सहित लुप्तोपमा आर्थी के तीन भेद किये। लुप्तोपमा के अन्य भेद इस प्रकार हैं-कर्मणमा अनुक्तधर्मा, कर्तृणमा अनुक्तधर्मा, क्विपा अनुक्तधर्मा, कर्मक्यच् अनुक्तधर्मा, अकथित उपमान लुप्तोपमा, समासगा लुप्तोपमा, वाक्यधर्मोपमानिका समासगा, अनुक्तधर्मा इवादि सामान्यवाचक लुप्तोपमा। इसके अतिरिक्त उपमा के अन्य भेद इस प्रकार हैं-मालोपमा, धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निश्चयोपमा, श्लेषोपमा, सन्तानोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चाटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असम्भावितोपमा, विक्रियोपमा, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा एवं हेतूपमा।[6]

आचार्य अजितसेन के पूर्णोपमा एवं लुप्तोपमा के भेदों पर मम्मट का प्रभाव है तथा उपमा के अन्य भेदों पर अग्निपुराण एवं दण्डी का प्रभाव है।

उपमा के भेद-प्रभेद निरूपण के पश्चात् आचार्य अजितसेन ने उपमा में प्रयोग करने योग्य सादृश्यवाचक शब्दों का परिगणन किया है-इव, वा, यथा, समान, निभ, तुल्य, संकाश, नीकाश, प्रतिरूपक, प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्व, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृक्ष, सदृश, सम, संवादि, सजातीय, अनुवादि, प्रतिबिम्ब, प्रतिचछन्द, सरूप, संमित, सलक्षणभ, सपक्ष, प्रख्य, प्रतिनिधि, सवर्ण, तुलित शब्द और कल्प, देशीय, देश्य, वत् इत्यादि प्रत्ययान्त चन्द्रप्रभादि शब्दों में समास का।[7]

इस प्रकार अजितसेन ने उपमा का बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है। यह विवेचन अन्य अलंकार ग्रन्थों से भिन्न न होने पर भी विशिष्ट अवश्य है।

सन्दर्भ

1. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
   जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्तेव निर्णीते अप्सः।। ऋग्वेद 8-2-342
2. इदमिव। इदं यथा। अग्निर्न ये। चतुश्चिद् ददमानात्। ब्राह्मण व्रतचारिणः। वृक्षस्य नु ते पुरुहुतः वयाः। जार आ. भगम्। मेषो भूतो३भियत्रयः। तद्रूपः। तद्वर्णः। तद्वत्। तथेत्युपमा।।।3।।तृतीयोऽध्यायः।
3. अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
   उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।। -अलंकारशेखर पृ. 34
4. अलंकारचिन्तामणि, 4/18
5. वही, पृ. 120
6. द्रष्टव्य, अलंकारचिन्तामणि, 4128-89
7. वही, पृ. 140

द्वारा-श्री जम्बूप्रसाद जैन, पटेल नगर, मुजफ्फरनगर

प्राचीन भारत पुस्तक में कुछ और भ्रामक कथन

- राजमल जैन

उपर्युक्त पुस्तक की सामग्री का अध्ययन करने से यह तथ्य सामने आया है कि लेखक ने अनेक भ्रामक बातें प्राचीन इतिहास में जैन योगदान के संबंध में लिखी हैं या उन्हें ओझल कर दिया है जो कि किशोर विद्यार्थियों को भ्रम में डाल सकती हैं। ऐसी कुछ बातों के संबंध NCERT तथा विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है।

1. वैदिक भरत के नाम पर भारतवर्ष नहीं

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, अध्यक्ष, भारत विद्या विभाग, बनारस विश्वविद्यालय ने भरत से भारत की तीन व्युत्पत्तियां बताई थीं। एक तो अग्नि (भरत) से, दूसरी दुष्यन्त के पुत्र भरत से और तीसरी मनु (भरत) से।

विचाराधीन पुस्तक के दूसरे ही पृष्ठ पर श्री शर्मा ने लिखा है-"भारत के लोग एकता के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्होंने इस विशाल उपमहाद्वीप को एक अखण्ड देश समझा। सारे देश को भरत नामक एक प्राचीन वेश के नाम पर **भारतवर्ष** (अर्थात् भरतों का देश) नाम दिया और इस देश के निवासियों को **भारतसन्तति** कहा।"

उपर्युक्त लेखक ने अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वेदों में भरत नाम आया है और उसी के नाम पर यह देश भारत कहलाता है। यह नाम किसे दिया गया, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। वेदों में अग्नि को भरत कहा गया है क्योंकि वह अन्न आदि पकाने में सहायक होने के कारण सब का भरण करती है। इस प्रकार अग्नि के नाम भरत को यह श्रेय दिया जाता है कि इस कल्पित भरत के नाम पर यह देश भारत कहलाता है।

अग्नि के संबंध में श्री अग्रवाल ने लिखा था, "ऋग्वेद में ही अग्नि को भारत कहा गया है...अग्नि भरत है क्योंकि वह प्रजाओं को भरता है।

देश में जहां-जहां अग्नि फैलता है प्रजाएं उसकी अनुगामी होकर उस प्रदेश में भर जीती हैं...इस प्रकार समग्र भूमि भरत अग्नि का व्यापक क्षेत्र बन गई और यही भरतक्षेत्र भारत कहलाया।'' इस व्याख्या को पुराणों ने स्वीकार नहीं किया और ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर भारत स्वीकार किया।

दूसरी व्युत्पत्ति मनु भरत के संबंध में उन्होंने लिखा था कि प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार ''सब प्रजाओं का भरण करने और उन्हें जन्म देने के कारण मनु को भरत कहा गया। नाम की उस निरुक्ति के अनुसार यह वर्ष भारत कहलाया...ऋग्वेद काल में भरत आर्यों की एक प्रतापी शाखा या जन की संज्ञा थी।'' यदि श्री शर्मा का संकेत इस व्युत्पत्ति की ओर है, तो वह भी पुराणों में स्वीकृत नहीं हुई।

वैदिक आर्यो ने तो अपने देश को **सप्तसिंधु** (सात नदियों का देश) कहा है। उसकी सीमा में काबुल, सिंध, पंजाब और कश्मीर आते थे। इस छोटे-से प्रदेश के बाशिंदों ने अपने प्रदेश का भी नाम बदल कर शेष अज्ञात पूरे भारत को भारतवर्ष नाम दे दिया होगा यह विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। समर्थन में पं. कैलाशचंद की पुस्तक से एक उद्धरण प्रस्तुत है-''ऋग्वेद में सप्तसिंधव देश की ही महिमा गाई गई है। यह देश सिंधु नदी से लेकर सरस्वती नदी तक था। (सरस्वती नदी का नाम तो ऋग्वेद में केवल एक बार ही आया है।) इन दोनों नदियों के बीच में पूरा पंजाब और काश्मीर आता है तथा कुभा नदी जिसे आज काबुल कहते हैं, उसकी भी वेद में चर्चा है। अत: अफगानिस्तान का वह भाग जिसमें काबुल नदी बहती है, आर्यो के देश में गर्भित था। यह सप्तसिंधव देश ही आर्यो का आदि देश था। (आ. आ. 33) [आर्यो का आदि देश, संपूर्णानंद] किंतु प्राच्य भाषाविद् डॉ. सु. चटर्जी का कहना है कि प्राचीन रूढ़िवादी हिंदू मत कि आर्य भारत में ही स्वयंभूत हुए थे विचारणीय ही नहीं है (भा. आ.हिं. पृ. 20) [भारतीय आर्यभाषा और हिंदी]''

तीसरी व्युत्पत्ति दुष्यन्त संबंधी है। दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष नहीं कहलाया क्योंकि उसका तो वंश ही नहीं चला। उसके तीन पुत्रों को उसकी रानियों ने मार डाला था। इसलिए कि वे उसके अनुरूप नहीं थे (भागवत पुराण) और ऋषियों ने दुष्यन्त के वंश का अंत होने की स्थिति आ जाने पर उसे एक लड़का लाकर दिया था जो भरद्वाज

कहलाया। **कालिदास** ने भी अभिज्ञानशाकुंतल में दुष्यन्त के पुत्र के नाम पर भारत नहीं लिखा।

श्री अग्रवाल ने "भारत की मौलिक एकता' (पृ. 21-26-27) में अग्नि और अन्य व्युत्पत्ति संबंधी भूल कर बैठे थे किंतु बाद में अपनी भूल को उन्होंने सुधार लिया।

अंततोगत्वा सम्यक् विचार के बाद श्री अग्रवाल ने यह मत व्यक्त किया-"ऋषभनाथ के चरित का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी विस्तार से आता है और यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि इसका कारण क्या रहा होगा। भागवत में ही इस बात का भी उल्लेख है कि महायोगी भरत **ऋषभ** के शत पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से दह देश भारतवर्ष कहलाया-

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्।
येनेदं वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति।। भागवत 5/4/9।"

(श्री अग्रवाल लिखित प्राक्कथन, जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका, लेखक पं. कैलाशचन्द)

ऋषभ-पुत्र भरत के नाम पर भारत के लिए वैदिक पुराण यथा 1 मार्कण्डेय 2 कूर्म 3 अग्नि 4 वायु 5 गरुड 6 ब्रह्मांड 7 वाराह 8 लिंग 9 विष्णु 10 स्कंद आदि और भी पुराण देखे जा सकते हैं। इनमें से कोई भी पुराण वैदिक भरत-वंश से भारतवर्ष नाम की व्युत्पत्ति नहीं बताता है।

'पुराण-विमर्श' नामक अपनी पुस्तक में पुराण संबंधी समस्याओं का महत्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने वाले प्रसिद्ध विद्वान् स्व. बलदेव उपाध्याय का मत उद्धृत करना उचित होगा। उनका कथन है-"भारतवर्ष इस देश का नाम क्यों पड़ा इस विषय में पुराणों के कथन प्रायः एक समान हैं। केवल **मत्स्यपुराण** ने इस नाम की निरुक्ति के विषय में एक नया राग अलापा है। भरत से ही भरत बना है। परन्तु भरत कौन था? इस विषय में मत्स्य (पुराण) ने मनुष्यों के आदिम जनक मनु को ही प्रजाओं के भरत और रक्षण के कारण भरत की संज्ञा दी है -

भरणात् प्रजानाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनेश्चैव वर्ष तद् भरतं स्मृतम्।। मत्स्य 114।5-6।

"प्रतीत होता है कि यह प्राचीन निरुक्ति के ऊपर किसी अवांतर युग की निरुक्ति का आरोप है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायंभुव के पुत्र थे

प्रियव्रत जिनके पुत्र थे नाभि। नाभि के पुत्र थे ऋषभ जिनके एकशत पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पिता का राज्य प्राप्त किया और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह प्रदेश 'अजनाभ' से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने लगा। **जो लोग दुष्यन्त के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परंपरा के विरोधी होने से अप्रमाण हैं।**'' पृष्ठ 333-334। अंत में उन्होंने अपने कथन के समर्थन में वायुपुराण, भागवतपुराण के उद्धरण दिए हैं।

स्व. उपाध्यायजी प्रस्तुत लेखक के बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में संस्कृत गुरु थे। सरस, स्पष्ट शैली के धनी उपाध्यायजी 99 वर्ष की आयु में दिवंगत हुए। कुछ ही वर्षों पूर्व वे काशी के एक जैन विद्यालय में पधारे थे। सभा में उन्होंने इतना ही कहा कि यह देश ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष कहलाता है और अपने निवास स्थान लौट गए। प्रस्तुत लेखक इस लेख के माध्यम से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

श्री आप्टे का विशालकाय संस्कृत-अंग्रेजी कोश भी भरत नाम की प्रविष्टि में यह उल्लेख नहीं करता है कि वेद-काल के भरत नाम पर यह देश भारत कहलाता है। यह कोश प्राचीन या पौराणिक संदर्भ भी देता है।

उपर्युक्त चौथी व्युत्पत्ति - ऋषभ-पुत्र भरत के नाम पर भारत ही भारतीय परंपरा में **सर्वाधिक** मान्य हुई है।

2. नग्न मूर्तियां नहीं, कायोत्सर्ग तीर्थंकर

ताम्र-पाषाण युग की चर्चा करते हुए श्री शर्मा ने लिखा है, ''कई कच्ची मिट्टी की नग्न **पुतलियां (!)** भी पूजी जाती थीं।'' (पृ. 48) उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि इनके पूजने वाले कौन थे? वे शायद यह जानते होंगे कि कुषाण काल की जो जैन मूर्तियां मथुरा में मिली हैं, उनमें 6 इंच की एक मूर्ति भी है। जैन व्यापारी जब विदेश व्यापार के लिए निकलते थे, तब वे इस प्रकार की लघु मूर्तियां अपने साथ पूजन के लिए ले जाया करते थे। आगे चलकर ऐसी प्रतिमाएं हीरे, स्फटिक आदि की बनने लगीं। वे कुछ मंदिरों में आज भी उपलब्ध और सुरक्षित हैं। अतः उन्हें 'पुतलियां' और 'पूजी जाने वाली' दोनों एक साथ कहना अनुचित है।

3. पशुपतिनाथ सील, अहिंसासूचक है

सिंधु सभ्यता की एक सील (पृ. 66) के संबंध में श्री शर्मा ने लिखा है कि उसे देखकर 'पशुपति महादेव' की छबि ध्यान में आ गई''। यदि

वे ध्यान से देखते, तो ऐसा नहीं लिखते। इस सील में तीर्थंकर योग अवस्था में ध्यानमग्न है। उनके एक ओर हाथी और बाघ हैं। दूसरी ओर गैंडा है। पाठक समझ सकते हैं कि ये परस्पर बैरी या विरोधी जीव हैं किन्तु अपने बैर को भूलकर वे शांत भाव से बैठे हैं। योगी के आसन के नीचे दो हिरण बिना किसी भय के स्थित हैं। यह तीर्थंकर की उपदेश सभा में जिसे समवसरण कहते है, संभव होता है। कुछ जैन मंदिरों में शेर और गाय को एक ही पात्र से पानी पीते हुए अंकित देखा जा सकता है। ऐसी एक घटना एक अंग्रेज शिकारी के साथ चटगांव में हुई थी। जब उसके हाथी ने शेर के आने पर उसे नीचे पटक दिया, तब शिकारी भागकर एक मुनि के पास जा बैठा। शेर आया किन्तु अपने शिकार के लिए आए शत्रु को बिना हानि पहुंचाए लौट गया।

वैसे पशुपति में 'पशु' शब्द का अर्थ ही गलत लगाया जाता है। उसका अर्थ देह या आत्मा है। जिसने इन्हें अपने वश में कर लिया, वही पशुपतिनाथ कहा जा सकता है। संस्कृत शब्दों का अर्थ प्रसंगानुसार करना ही उचित होता है।

इस प्रकार का एक और उदाहरण पशु संबंधी यहां दिया जाता है। ''*ऋषभो वा पशुनामाधिपतिः* (तां. वा. 14-2-5) तथा ''*ऋषभो वा पशुनां* प्रजापतिः (शत. ब्रा. 5,12-5-17) संख्यात्मक संदर्भ प्रस्तुत लेखक ने कैलाशचंदजी की पुस्तक (पृ. 109) से लिए हैं। यदि यहां पशु का अर्थ animal से लिया जाए, और ऋषभ से बैल (जैसा कि श्री शर्मा करते हैं, तो क्रमशः 'बैल पशुओं का राजा है' (शेर का क्या होगा?) और 'बैल पशुओं का प्रजापति है' यह बात गोता खा जाने की बन गई। यदि पशु का अर्थ मनुष्य या देहधारी किया जाए और ऋषभ से ऋषभदेव किया जाए, तो मतलब निकलेगा ऋषभदेव मानवों के राजा थे। यह जैन मान्यता है। दूसरे का आशय भी इसी प्रकार ऋषभदेव देहधारियों के प्रजापति थे यह होगा। जैन मान्यता है कि जब कल्पवृक्षों से मानवों की आवश्यकताएं पूरी होना कठिन हो गया, तब उस समय के मनुष्य ऋषभ के पास जीविका के उपाय पूछने गए तथा उनसे अपना अधिपति या राजा बनने की प्रार्थना की जो ऋषभ ने स्वीकार कर ली और उन्हें असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प कार्यों से जीविका करने का उपदेश दिया। लोगों ने उनसे अपना शासक बनने की प्रार्थना की थी, इसलिए वे प्रजापति कहलाए। यहां यही संकेत जान पड़ता है और अर्थ भी ठीक बैठ जाता है।

यदि श्री शर्मा भागवत के पंचम स्कंध के पांचवें अध्याय के 19वें श्लोक के गोरखपुर संस्करण के हिन्दी अनुवाद को ही देख लेते, तो उन्हें यह जानकारी मिलती "मेरे इस अवतार शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिए बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे ही ओर ढकेल दिया है। इसी से सत्पुरुष मुझे **'ऋषभ'** कहते हैं।" ये शब्द भागवतकार ने पुत्रों को उपदेश देते समय ऋषभ से कहलवाये हैं।

वैदिक कोष में भी उन्हें ऋषभ के अर्थ 'विज्ञानवान (परमयोगी), उत्कृष्ट गुणकर्म स्वभावस्य राज्ञ: तथा अनंतबल: (परमात्मा)' आदि अर्थ विद्वान लेखक को मिल जाते।

हलायुध कोष में ऋषभ को **आदिजिनः अवतारविशेषः** कहा गया है।

4. जनपद राज्य-शैशुनाक वंश

ईसा से छटी शताब्दी पूर्व में सोलह महाजनपद थे। उनकी जानकारी के संबंध में श्री शर्मा ने यह नहीं बताया कि उनके संबंध में जैन ग्रथों से सबसे अधिक सूचना प्राप्त हुई है। किन्तु बुद्ध काल में नगरों के संबंध में उनकी सूचना है कि "पालि और संस्कृत ग्रंथों में उल्लिखित अनेक नगरों को खोद (किसने?) निकाला गया है, जैसे कौशाम्बी, श्रावस्ती, अयोध्या, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली, राजगीर, पाटलिपुत्र और चम्पा।" कपिलवस्तु को छोड़कर अन्य सभी स्थान जैन ग्रंथों में अधिक चर्चित एवं वंदनीय माने गए हैं।

बिंबिसार और अजातशत्रु बुद्ध के सामने नतमस्तक हुए थे यह श्री शर्मा का कथन है। किंतु बिंबिसार महावीर का परम श्रोता था। महावीर की माता त्रिशला वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष चेटक की पुत्री थीं। त्रिशला की बहिन चेलना का विवाह बिंबिसार से हुआ था। बिंबिसार ने महावीर से जो प्रश्न किए, उनसे जैन पुराण भरे पड़े हैं। किंतु श्री शर्मा ने यह लिख दिया कि उस समय का राजा "बुद्ध जैसे धार्मिक महापुरुषों के आगे ही नतमस्तक होता था...बिंबिसार और अजातशत्रु इसके अच्छे उदाहरण हैं।" किंतु बिंबिसार तो बुद्ध द्वारा अपने धर्म का प्रचार करने से पहले ही महावीर का अनुयायी हो चुका था। (डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास-एक दृष्टि, पृ. 63)

जहां तक अजातशत्रु का प्रश्न है, वह तो बुद्ध से यह पूछने गया था कि किस प्रकार वह वृज्जि, विदेह और वैशाली गणतंत्रों पर विजय पा सकता है। गौतम बुद्ध ने इन गणतंत्रों की सात विशेषताएं अपने शिष्य आनंद को लक्ष्य कर बताईं। उनमें यह भी थी कि जब तक ये मिलकर काम करते रहेंगे, तब तक वे वृद्धि को प्राप्त होंगे। अजातशत्रु को मंत्र मिल गया और उसने इन गणतंत्रों को अपने राज्य में मिला लिया। यह विजेता भी जैन था। किंतु बौद्ध परंपरा से बाद में जोड़ दिया गया बताया जाता है। उसने कोई बौद्ध स्मारक बनाया हो ऐसा नहीं लगता।

5. "बुद्धकाल में राज्य और वर्ण-समाज"

यह तो संभवतः सभी जानते हैं कि ईसा पूर्व छटी शताब्दी महावीर और गौतम बुद्ध का युग था और दोनों ने ही वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था किन्तु श्री शर्मा ने अध्याय 13 में यह मत व्यक्त किया है कि इस युग में "वर्ण व्यवस्था की गई और हर एक वर्ण का कर्तव्य (पेशा) स्पष्ट रीति से निर्धारित कर दिया गया।" पृ. 126। इस कथन से बढ़ कर तथ्य-विरोध और क्या हो सकता है? एक इतिहासकार के अनुसार तो उस समय बुद्ध के बहुत ही कम अनुयायी थे। वास्तव में, वह महावीर का युग था। वे बुद्ध से ज्येष्ठ थे और बुद्ध से पहले ही अपने श्रमण धर्म का प्रचार प्रारंभ कर चुके थे। अच्छा होता कि इस अध्याय का नाम महावीर युग की स्थिति होता। यदि बुद्ध के प्रति आग्रह ही था, तो महावीर-बुद्ध युग शीर्षक हो सकता था किन्तु लेखक का उद्देश्य तो वर्ण व्यवस्था की श्रेष्ठता बताना संभवतः था।

6. वैशाली गणतंत्र

श्री शर्मा ने वैशाली गणतंत्र के प्रशासन तंत्र की चर्चा की है। किन्तु एक बार भी 'वैशाली गणतंत्र' समस्त पद का प्रयोग नहीं किया है। शायद उन्होंने यह विद्यार्थियों पर छोड़ दिया है कि वे अनुमान कर लें कि वैशाली नाम का कोई गणतंत्र भी था। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने उसे "Recorded Republics" में गणित किया है। उसका विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य में उपलब्ध है। बुद्ध ने अंतिम वैशाली दर्शन के समय हाथी की भांति मुड़ते हुए अपने शिष्य आनंद से कहा था कि वह उनके संघ का संगठन वैशाली जैसा करे। श्री दिनकर ने वैशाली को "संसदों की जननी" कहा है। यह गणतंत्र विश्व का सबसे प्राचीन गणतंत्र माना जाता है जिसका लिखित विवरण उपलब्ध है।

वैशाली के लिच्छवियों की न्याय प्रणाली की श्री शर्मा ने एक प्रकार से खिल्ली उड़ाई है। वे लिखते हैं "लिच्छवियों के गणराज्यों में एक के ऊपर एक सात न्यायपीठ होते थे जो एक ही मामले की सुनवाई बारी-बारी से सात बार करते थे। लेकिन यह **अत्यधिक उत्तम होने के कारण अविश्वसनीय** है।" इसके विपरीत श्री जायसवाल का मत है, "Liberty of the citizen was most jealously guarded A citizen could not be held guilty unless he was considered so by the Senapati, the Upraja and the Raja seperately and without dissent " (Hindu Polity, p 46) यह अतिरिक्त सावधानी उक्त सप्त व्यवस्था के अतिरिक्त थी। उसका सबसे उच्च निर्णायक गणतंत्र का अध्यक्ष होता था। आजकल भी तो प्रेसीडेंट को क्षमादान का अधिकार सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद भी है और उस पर अपनी टिप्पणी मंत्री ही भेजता है।

7. चंद्रगुप्त मौर्य दासी-पुत्र नहीं

श्री शर्मा ने अध्याय 14 को मौर्य युग नाम दिया है किंतु अन्य अध्यायों की भांति एक भी सहायक पुस्तक का नाम नहीं दिया है। अध्याय 23 में उन्होंने इतिहासकार श्री रामशंकर त्रिपाठी की पुस्तक का नाम दिया है। श्री त्रिपाठी की History of Ancient India भी उन्होंने देखी होगी। उसमें श्री त्रिपाठी ने इस बात का खण्डन किया है कि मुरा से मौर्य शब्द बना है। वास्तव में, नेपाल की तराई में पिप्पली गणतंत्र के क्षत्रिय मोरिय वंश में चंद्रगुप्त का जन्म हुआ था। इसलिए वे मौर्य कहलाए। ब्राह्मण परंपरा ने उन्हें निम्न उत्पत्ति का बतलाने के लिए यह कहानी गढ़ ली है ऐसा जान पड़ता है। इसी प्रकार इस परंपरा में जैन नंद राजाओं को भी शूद्र कहा गया है। कुछ इतिहासकार उसी को सच मान कर असत्य का साथ देते हैं। सम्राट् खारवेल के शिलालेख में स्पष्ट उल्लेख है कि नंद राजा कलिंगजिन की प्रतिमा उठा ले गया था, उसे वह वापस लाया है। स्पष्ट है कि नंद राजा जैन थे। श्री शर्मा ने तो खारवेल के शिलालेख के उल्लेख से ही परहेज किया है ऐसा जान पड़ता है।

8. जैन सम्राट् खारवेल के शिलालेख की अनदेखी

खारवेल का लगभग 2200 वर्ष प्राचीन शिलालेख भारत के पुरातात्विक इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह आज भी विद्यमान है। श्री शर्मा ने उसका उल्लेख ही नहीं किया है। केवल पृ. 209 पर

खारवेल का नाम लेकर हाथ धो लिए हैं। किंतु अगले ही पृष्ठ पर वसिष्ठ, नल, मान, माठर जैसे छोटे-छोटे राज्यों का उड़ीसा में होना पहिचान कर बताया है और यह लिखा है, ''हर राज्य ने ब्राह्मणों को बुलाया था। अधिकांश राजा वैदिक यज्ञ करते थे।'' यह है एक इतिहासकार का दृष्टिकोण। **दीर्घजीवी** मौर्य शासन के राजा जैन थे ऐसा लिखना वे न जाने किस कारण से भूल गए। अशोक को भी भांडारकर आदि विद्वानों ने जैन माना है। मौर्य वंश के सभी राजा जैन थे। ऐसा कथन इतिहास के साथ न्यायपूर्ण होता।

9. दक्षिण भारत

श्री शर्मा ने दक्षिण भारत के सातवाहन और सुदूर दक्षिण के तीन राज्यों कर्नाटक, तमिलनाडु (प्राचीन नाम तमिलगम) और केरल में ब्राह्मण राजाओं का ही प्राधान्य, वैदिक यज्ञों का प्रचार आदि पर ही अधिक जोर दिया है। मौर्य शासन की समाप्ति (मौर्य राजा की हत्या उसके ब्राह्मण सेनापति ने की थी) पर उनकी टिप्पणी है...''मौर्य साम्राज्य के खंडहर पर खड़े हुए कुछ नए राज्यों के शासक ब्राह्मण हुए। मध्य प्रदेश में और उससे पूर्व मौर्य साम्राज्य के अवशेषों पर शासन करने वाले शुंग और कण्व ब्राह्मण थे। इसी प्रकार दकन और आंध्र में चिरस्थायी राज्य स्थापित करने वाले सात वाहन भी अपने आपको ब्राह्मण मानते थे। इन ब्राह्मण राजाओं ने वैदिक यज्ञ किए जिनकी अशोक ने उपेक्षा की थी।''

इतिहास के ज्ञाता जानते हैं कि शुंग और कण्व वंश अल्पजीवी थे किंतु शर्माजी ने **दीर्घजीवी** मौर्ययुग के प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त के बारे में इतना भी नहीं लिखा कि वह जैनधर्म का अनुयायी था। इसका प्रमाण श्रीरंगपट्टन का शिलालेख है जो कि 600 ई. का है और इस पुस्तक की समय-सीमा में आता है।

आंध्र के सातवाहन वंश के एक राजा हाल ने महाराष्ट्री प्राकृत में गाथा सप्तशती लिखी है, उस पर जैन प्रभाव है। इस शासन में ''प्राकृत भाषा का ही प्रचार था'' (डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन)। प्राचीन जैन साहित्य में भी सातवाहन राजाओं के उल्लेख पाए जाते हैं। शायद श्री शर्मा का ध्यान इन तथ्यों की ओर नहीं गया। उन्होंने यह अवश्य लिखा है कि ''उत्तर के कट्टर ब्राह्मण लोग आंध्रों को वर्णसंकर मान कर हीन समझते थे।'' (पृ. 164)

कर्नाटक के कदम्ब और गंग वंश जैनधर्म के अनुयायी थे। उनके संबंध में श्री शर्मा का मत है-''पश्चिमी गंग राजाओं ने अधिकतर भूमिदान जैनों को दिया। कदम्ब राजाओं ने भी जैनों को दान दिया पर वे ब्राह्मणों की ओर अधिक झुके हुए थे।''

कर्नाटक के इतिहास की सबसे प्रमुख घटना हेमागंद देश (कोलार गोल्ड फील्ड से पहिचान की जाती है) के राजा जीवंधर द्वारा स्वयं महावीर से जैन मुनि दीक्षा लेना है। कर्नाटक स्टेट गजेटियर में उल्लेख है, "Jainism in Karnataka is believed to go back to the days of Bhagawan Mahavir, a prince from Karnatak is described as having been initiated by Mahavir himself."

दूसरी प्रमुख घटना चंद्रगुप्त मौर्य का श्रवणबेलगोल की चंद्रगिरि पहाड़ी पर तपस्या एवं निर्वाण है।

श्री शर्मा ने इतिहास प्रसिद्ध इन घटनाओं का उल्लेख नहीं किया है जब कि इस ब्राह्मण अनुश्रुति का जिक्र किया है, ''कहा जाता है कि मयूरशर्मन् ने (**कदम्ब** वंश का संस्थापक) अठारह अश्वमेध यज्ञ किए और ब्राह्मणों को **असंख्य** (?) गांव दान में दिए।'' प्रसिद्ध पुरातत्वविद श्री रामचंद्रन का मत है कि बनवासि के कदम्ब शासक यद्यपि हिंदू थे तथापि उनकी बहुत-सी प्रजा जैन होने के कारण वे भी यथाक्रम जैनधर्म के अनुकूल थे।

गंग वंश के संबंध में श्री शर्मा ने ऊपर कही गई दान की बात के अलावा और कोई तथ्य नहीं लिखा। इस वंश की स्थापना में सर्वाधिक योगदान जैनाचार्य सिंहनंदि का था। अनेक गंग राजाओं ने जैन मंदिरों आदि का निर्माण करवाया था। श्री रामचंद्रन ने लिखा है, ''जैनधर्म का स्वर्णयुग साधारणतया दक्षिण भारत में और विशेषकर कर्नाटक में गंग वंश के शासकों के समय में था जिन्होंने जैनधर्म को राष्ट्रधर्म के रूप में स्वीकार किया था।''

तमिलनाडु (तमिलगम) : इस प्रदेश के चार राजवंश प्रख्यात हैं-पल्लव, पांड्य, चोल और चेर।

पल्लव वंश आंध्र और तमिलनाडु के सीमावर्ती प्रदेश पर शासन करता था। उसकी राजधानी कांजीवरम् (कांची) थी। इसके संबंध में श्री शर्मा लिखते हैं कि पल्लच किसी कबीले के थे और उन्हें ''पूरा-पूरा

सभ्य होने में कुछ समय लगा क्योंकि पल्लव शब्द का अर्थ तमिल भाषा में डाकू होता है।" प्रसिद्ध जैनचार्य समन्तभद्र अपने को कांची का निवासी बताते थे। इस वंश का राजा दूसरी सदी में स्थापित माना जाता है। इस वंश के कुछ राजा जैन थे। छटी सदी में इस वंश के महेन्द्रवर्मन प्रथम (600-630) ने अनेक जैन मंदिरों तथा गुफाओं का निर्माण करवाया था। प्रसिद्ध सितन्नवासल जैन गुफा का निर्माण भी उसी ने करवाया था किन्तु वह शैव बन गया और उसने जैनधर्म को बहुत अधिक हानि पहुंचाई।

चोल वंश को सम्मिलित करते हुए भी श्री शर्मा ने लिखा है कि "तमिल देश में ईसा की आरंभिक सदियों में जो राज्य स्थापित हुए उनका विकास ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव से हुआ...राजा वैदिक यज्ञ करते थे। वेदानुयायी ब्राह्मण लोग शास्त्रार्थ करते थे।" यहां यह सूचना ही पर्याप्त जान पड़ती है कि चोल राजा कीलिकवर्मन का पुत्र शांतिवर्मन (120-185 A.D) जैन मुनि हो गया था और वह जैन परम्परा में समंतभद्र के नाम से आदरणीय और पूज्य है। स्वामी समंतभद्र ने भारत के अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ में विजय पाई थी। वे अपने आपको वादी, वाग्मी आदि कहते थे। चौथी सदी में जब चोल राजाओं का प्रभाव बढ़ा, तब भी वे जैनधर्म के प्रति सहिष्णु रहे।

पांड्य वंश का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। श्री शर्मा ने यह मत व्यक्त किया है कि "पांड्य राजाओं को रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार में लाभ होता था और उन्होंने रोमन सम्राट ऑगस्टस के दरबार में राजदूत भेजे। ब्राह्मणों का अच्छा स्थान था।" पृ. 172 किन्तु डॉ. ज्योतिप्रसाद का कथन है, "ई. पूर्व 25 में तत्कालीन पांड्य नरेश ने एक जैन श्रमणाचार्य को सुदूर रोम के सम्राट् ऑगस्टस के दरबार में अपना राजदूत बनाकर भेजा था। भड़ौच के बंदरगाह से जलपोत द्वारा यह यात्रा प्रारंभ हुई थी। उक्त मुनि ने अपना अंत निकट जान कर रोम नगर में **सल्लेखना** द्वारा देह त्याग दी थी और वहां उनकी समाधि बनी थी।" पृ. 246

चेर राजवंश का नाम अशोक के शिलालेख में भी है। यह वंश आरंभ से ही जैन धर्म का अनुयायी प्रतीत होता है। श्री शर्मा ने यह लिखा है कि "चेरों ने चोल नरेश कारिकल के पिता का वध कर दिया किन्तु चेर नरेश को अपनी जान गंवानी पड़ी...कहा जाता है कि चेर राजा ने पीठ

में घाव लगने के कारण लज्जावश आत्महत्या कर ली।'' यह राजा उदियन चेर लातन था। इस शासक के संबंध में उसके शत्रु राजा के कवि ने उसके बारे में लिखा था, "Is not he (cher king) nobler than three (Chol Karikal) who ashamed of the wound on his back, *starves without food to gain glorious death?*" अपना अंत समय निकट जान कर अन्न-जल का त्याग करना जैन परम्परा में सल्लेखना धारण करना कहलाता है। कवि ने इसी सल्लेखना की प्रशंसा की है। उदियन ने उसे धारण किया था न कि आत्महत्या की थी। तमिल में सल्लेखना को **वडक्किरुत्तल** कहते हैं। दूसरी सदी में हुए युवराजपाद इलेगो इडिगल (शलप्पदिकारम नामक महाकाव्य में जैन श्राविका कण्णगी और उसके पति कोवलन की अमर प्रेम गाथ के महाकवि) भी जैन आचार्य थे।

इस वंश के चेर काप्पियन के लिए निर्मित शैल शय्या आज भी पुगलूर में (तमिलनाडु) है।

कलभ्र शासक - ईसा की तीसरी से पांचवीं सदी का केरल सहित तमिलनाडु का इतिहास अंधकारपूर्ण (historical night) माना जाता है अर्थात् उस काल का कोई इतिहास नहीं मिलता। इतना लिखा मिलता है कि कलभ्र शासक 'कलि अरसन' यानी कलि काल में सभ्यता के शत्रु थे। श्री शर्मा ने पृ. 225 पर लिखा है, ''कालाभ्रों को दुष्ट राजा कहा गया है। उन्होंने अनेकानेक राजाओं को उखाड़ फेंका और तमिलनाडु पर अपना कब्जा जमा लिया। उन्होंने बहुत-सारे गांवों में ब्राह्मणों को मिले **ब्रह्मदेयं** अधिकारों को खत्म कर दिया। लगता है कि कालाभ्र बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।'' वास्तव में, कलभ्र जैन थे। कुछ लोग उन्हें कर्नाटक से आए बताते हैं। रामास्वामी अयंगार का मत है, "It looks as thought the Jains had themselves invited the Kalabhras to establish Jainism more firmly in the country. The period of the Kalabhras and that which succeeds it must, therefore, be considered as the period when the Jains had reachered their zenith. It was during this period that the famous *Naladiyar* (collection of didagctical poems by Jain asetics) was composed by the Jains There are two references in Naladiyar to Muttaraiyar (lords of pearls) indicating that the Kalabhras were Jains and patrons of Tamil literature," p 56, Studies in South Indian Jainism

बी-1/324, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

एक जनोपयोगीकृति -

श्री सम्मेद शिखरजी चालीसा

रचनाकार - सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन)

प्राप्ति स्थान - श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट
वीर सेवा मंदिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

आधुनिक साज सज्जा युक्त उक्त कृति तीर्थराज सम्मेद शिखर के माहात्म्य को जन जन तक पहुँचाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है। वस्तुत तीर्थक्षेत्र की वन्दना भावो की निर्मलता मे निमित्त कारण है। यही कारण है कि हमारे परम्परित आचार्यों ने भी तीर्थक्षेत्र की भक्ति वन्दना को पर्याप्त महत्त्व दिया है। कविवर द्यानतराय, वृन्दावन आदि भक्तिरसिक कवियो ने जो पूजन विधान रचे है, वे सभी भावो को निर्मल बनाने के लिए स्वान्त सुखाय ही रचे है। यह बात अलग है कि उनकी रचनाओ के माध्यम से भक्तजन आज भी अपनी मानसिक वेदना का शमन करने का प्रयत्न करते है।

प्रस्तुत कृति के रचनाकार श्री सुभाष जी ने भी स्वान्त सुखाय ही चालीसा रचना की होगी, परन्तु वह रचना सर्वजनोपयोगी बन गई है। सम्मेद शिखर की लम्बी वन्दना करते हुए इनके उपयोग से भावो मे निर्मलता का सचार होगा और विषय कषायो से कुछ समय के लिए ही सही, मुक्ति मिल सकेगी। श्री दिगम्बर जैन शाश्वत तीर्थराज सम्मेद शिखर ट्रस्ट ने इसे प्रचारित कर सामयिक कदम उठाया है। अत वह साधुवादाई है। प्रस्तुत कृति स्पृहणीय और मनन चिन्तन के लिए उपयोगी है। सामाजिक सस्थाओ मे अनेक दायित्वो का निर्वाह करते हुए रचनाकार श्री सुभाष जैन बधाई के पात्र है जिन्होने सर्वजनोपयोगी रचना का सृजन किया। शिखरजी ट्रस्ट को पत्र लिखकर पुस्तके निशुल्क प्राप्त की जा सकती है।

- डॉ सुरेश चन्द्र जैन